

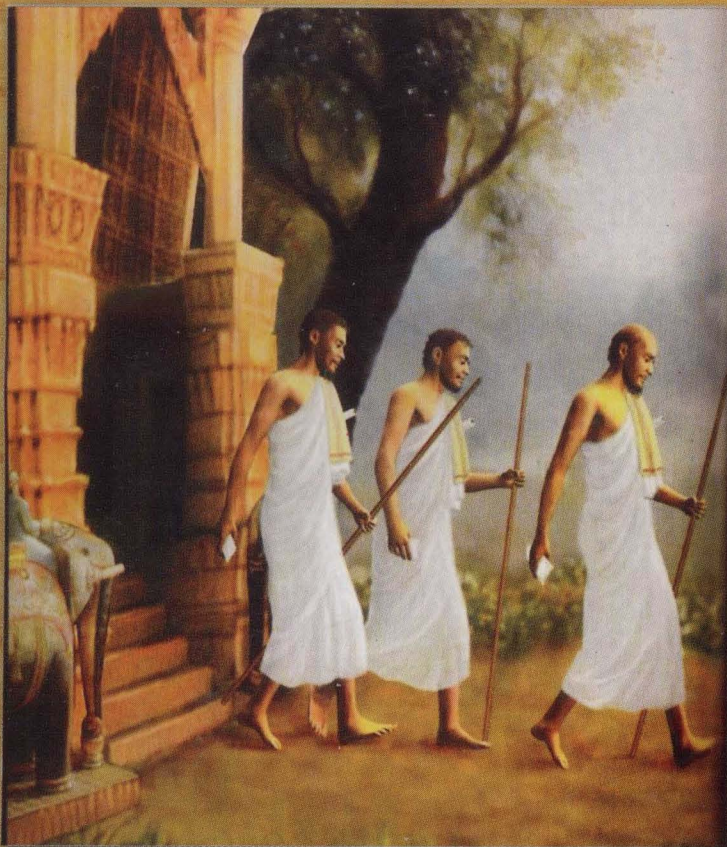
श्रमण ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII

No. 1

January-March 2007



Pārśwanātha Vidyāpiṭha, Varanasi
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII

No. I

January - March 2007

Editors

Hindi Section

Dr. Vijaya Kumar

English Section

Dr. S.P. Pandey

Publisher



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

*Recognized by Banaras Hindu University
as an external Research Centre*

श्रमणः

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

Śramaṇa: A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVIII

No. I

January - March 2007

ISSN-0972-1002

Subscription

Annual membership

For Institutions: Rs. 250.00

For Individuals: Rs. 200.00

Per Issue Price: Rs. 50.00

Life Membership

For Institutions: Rs. 1500.00

For Individuals: Rs. 500.00

Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of Parshwanath Vidyapeeth

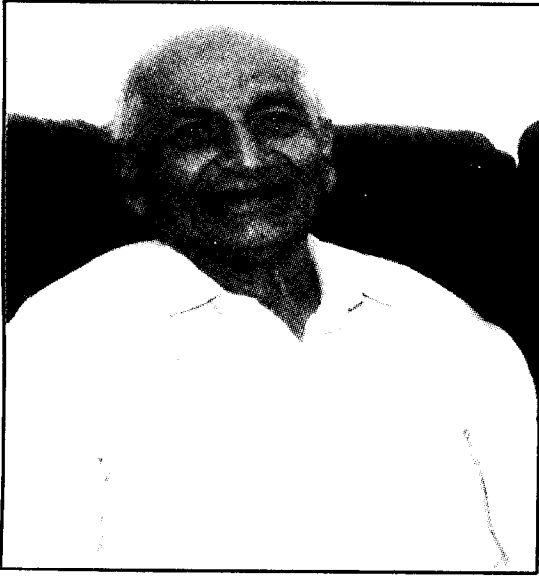
Published by : Parshwanath Vidyapeeth
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890
Email : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
pvri@sify.com

Type Setting by : **Add Vision**
Karaundi, Varanasi-221005

Printed at : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

समर्पण



जन्म : १५.०४.१९२८ मृत्यु : ३१.०१.२००७

जैन धर्म-दर्शन एवं विज्ञान के सारस्वत साधक
स्वर्गीय डॉ० नन्दलाल जैन को सादर।

श्रमण

जनवरी-मार्च २००७

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

- | | | |
|---|------------------------|-------|
| १. तीस वर्ष और तीन वर्ष | स्व० नंदलाल जैन | १-३१ |
| २. आगमों में अनंगार के प्रकार : परिव्राजक, तापस और आजीवक के विशेष सन्दर्भ में | डॉ० विजय कुमार | ३२-३९ |
| ३. वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं में सामाजिक पारस्परिकता | डॉ० सुधा जैन | ४०-४५ |
| ४. जैन-जैनेतर धर्म-दर्शनों में अहिंसा | डॉ० श्यामकिशोर सिंह | ४६-५४ |
| ५. जैन एवं बौद्ध धर्मों में चतुर्विध संघों का परस्पर योगदान | डॉ० शारदा सिंह | ५५-६१ |
| ६. जैन ज्ञानमीमांसा : प्रमाणनयतत्त्वालोक के विशेष सन्दर्भ में | डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय | ६२-७५ |
| ७. भारतीय तर्कशास्त्र को जैन दर्शन का योगदान | डा० राकेश कुमार सिंह | ७६-८३ |
| ८. जैन एवं शैव धर्मों के बीच समीपता के साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण | डॉ० कृष्णकान्त मिश्र | ८४-८६ |
| ९. जैन साहित्य में वर्णित व्यापारिक साधन | डॉ० संजय कुमार पाण्डेय | ८७-९० |

ENGLISH SECTION

- | | | |
|---|---------------------|---------|
| 10. Tattvārthavivarāṇa : An Appraisal | Dr. G.L. Suthar | 93-101 |
| 11. The Concept of Dharma : A Reappraisal | Dr. Bijayananda Kar | 102-113 |
| 12. Can there be a choice between Religion or no Religion | Dr. Kanchan Saxena | 114-120 |
| 13. The Influence of Jainism on Akbar, The Mughal Emperor | Dr. Nirmala Gupta | 121-130 |
| 14. The Concept of Mind in Won-Buddhist Philosophy and Yoga | Prof. Soon-Keum Kim | 131-142 |
| 16. Anekānta and the Concept of Absolutism in Jainism | Dr. Jagdish P. Jain | 143-149 |
| १७. पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में | | १५०-१५२ |
| १८. जैन जगत् | | १५३-१५७ |
| १९. साहित्य सत्कार | | १५८-१६६ |



हिन्दी खण्ड

- तीस वर्ष और तीन वर्ष : -स्व० डा० नन्दलाल जैन
- आगमों में अनगार के प्रकार: परिव्राजक,
तापस और आजीवक के विशेष सन्दर्भ में -डा० विजय कुमार
- वैदिक और श्रमण परम्पराओं में
सामाजिक पारस्परिकता -डा० सुधा जैन
- जैन-जैनेतर धर्म-दर्शनों में अहिंसा -डा० श्यामकिशोर सिंह
- जैन एवं बौद्ध धर्मों में चतुर्विध संघों
का परस्पर योगदान -डा० शारदा सिंह
- जैन ज्ञानमीमांसा: प्रमाणनयतत्त्वालोक
के विशेष सन्दर्भ में -डा० राघवेन्द्र पाण्डेय
- भारतीय तर्कशास्त्र को जैन दर्शन का योगदान- डा० राकेश कु०सिंह
- जैन एवं शैव धर्मों के बीच समीपता के
साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण -डा० कृष्णकान्त मिश्र
- जैन साहित्य में वर्णित व्यापारिक साधन - डा० संजय कु० पाण्डेय

तीस वर्ष और तीन वर्ष

स्व० डॉ० नंदलाल जैन*

एक विदेशी लेखक के अनुसार- संसार में दो ही धर्म ऐसे हैं जिनका संस्थापन या उद्भवकाल अज्ञात या अनादि माना जाता है - हिन्दू धर्म और जैन धर्म। संभवतः ये प्राक्-ऐतिहासिक हैं। इसके विपर्यास में विश्व के अधिकतम वर्तमान धर्मों के उद्भव और संस्थापक के विषय में पर्याप्त जानकारी है, जैसा कि सारणी-१ से ज्ञात होता है।

सारणी - १ - विभिन्न धर्मों का उद्भव और उनके संस्थापक

क्र०	धर्म	संस्थापक	उद्भवकाल	आदिम प्रसार काल	अवतार	अनुयायी मिलियन
१.	जैन धर्म	(वर्तमान में पुनरुद्धारक, पार्श्वनाथ और महावीर) (५९९-५२७ BCE)	-	-	२४ तीर्थंकर	१०
२.	हिन्दू धर्म	-	-	-	२४ अवतार	१३००
३.	यहूदी धर्म	अब्राहम/मूसा	-१२०० BCE	-	-	१३
४.	बौद्ध धर्म	महात्मा बुद्ध (५६०-४८० BCE)	छठी सदी ई०पू०	४४ वर्ष	२४ बुद्ध	२०००
५.	ईसाई धर्म	जोसस क्राइस्ट (४ BCE-३०CE)	प्रथम सदी	३१/२ वर्ष	२४ स्थविर	३०००
६.	मुस्लिम धर्म	महात्मा मुहम्मद (५७०-६३२CE)	६१०CE	२२ वर्ष	-	२५००
७.	सिक्ख धर्म	गुरुनानक (१४६९-१५३९CE)	१५-१६००CE	४० वर्ष	-	२०
८.	बहाई धर्म	बहाउल्ला (१८२०-१८५०CE)	१९वीं सदी	३० वर्ष	-	१०

* जैन सेंटर, १२/६४४, बजरंग नगर, रीवा-४८६००१

ऐतिहासिक दृष्टि से यहूदी धर्म का इतिहास सर्वाधिक प्राचीन है। इसकी तुलना में, जैनधर्म को भगवान पार्श्वनाथ (~८७७ ई०पू०) तथा सनातन धर्म को वेद-पूर्वकालीन (~१५००-२०० ई०पू०) माना जाता है। यद्यपि सभी धर्म मुख्यतः व्यक्ति-विकास एवं जनकल्याण के रूप में समान हैं, पर जहाँ प्राचीन भारतीय धर्मों के नाम व्यक्ति-विहीन तथा गुण-प्रधान हैं, वहीं उत्तरवर्ती धर्मों के नाम ईश्वर-दूत, ईश्वर-पुत्र, ईश्वर-प्रकाश आदि के रूपक के रूप में व्यक्ति-प्रधान हैं। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों की संख्या देखकर यह आश्चर्य होता है कि ऐतिहासिकता की दृष्टि से पूर्ववर्ती धर्मों की तुलना में जैनों की संख्या अत्यन्त अल्प है और भारत में तो यह कई शताब्दियों से ०.४% (और समग्र विश्व में ०.०४%) पर स्थिर है, जबकि ईसाइयों की संख्या विश्व की जनसंख्या का ३३-३५% चल रहा है। लगभग ४००० व्यक्ति प्रतिदिन नये ईसाई बन रहे हैं, तथापि सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शिक्षित पश्चिम में इसके अनुयायियों की संख्या कम हो रही है और अविकसित देशों से बढ़ रही है, अर्थात् शिक्षितों में इसका आकर्षण कम होता जा रहा है। यदि जैनधर्म के वर्तमान स्वरूप को भगवान महावीर की देन माना जाय, तो इसका संप्रसारण काल ३० वर्ष (केवलज्ञान प्राप्ति के बाद) आता है, इसके विपर्यास में ईसाई धर्म के संस्थापक जीसस क्राइस्ट का संस्थापन और संप्रसारण काल प्रायः तीन-साढ़े तीन वर्ष बैठता है। फलतः यह विचारणीय है कि ईसाई धर्म इतने अल्प समय में इतना प्रभावशाली एवं संप्रसारित रूप कैसे ले सका और जैनधर्म के तीस वर्ष का प्रारम्भिक महावीर-कालीन संप्रसारण क्यों इतना प्रभावशाली, आज तक भी नहीं बन सका। इस हेतु हमें दोनों महापुरुषों के जीवन, उपदेश एवं कार्यपद्धति पर तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श करना होगा।

महावीर और ईसा का जीवन चरित

महावीर का जीवनकाल (५९९-५२७ BCE) ७२ वर्ष माना जाता है, जबकि ईसा का जीवन काल ~४BCE - ३०CE माना जाता है। इस प्रकार इन दोनों महापुरुषों के जीवनकाल में प्रायः न केवल ६०० वर्षों का अन्तर है अपितु, इनका कार्यक्षेत्र भी भिन्न है। एक भारत में रहा, दूसरा अरब क्षेत्र (लगभग तीन हजार मील ~५००० कि०मी० दूर) रहा। दोनों ने ही अपने क्षेत्रों में रहकर उपदेश दिये और उनका विश्वव्यापी प्रभाव हुआ। दोनों ही क्षेत्रों में अपने-अपने समय में लगभग एक-सी स्थितियां थीं-

१. हिंसक बलिदानों तथा यज्ञों और क्रियाकांडों की बहुलता, २. मांसाहार की लोकप्रियता, ३. बहु-देववाद की मान्यतायें, ४. सत्य एवं भ्रामक चमत्कार

प्रदर्शन, ५. जातिवाद की प्रमुखता (पुरोहितवाद), ६. स्त्रियों की शोचनीय स्थिति ७. उत्तमता की धारणा, ८. अंधविश्वास और आत्मश्लाघा ९. भूत-प्रेत में विश्वास। इसका अर्थ यह है कि छः सौ वर्षों में मानव का विकास नगण्य ही हुआ होगा।

दोनों ही महापुरुषों ने इन समस्याओं के युगानुरूप समाधान दिये, पर उनमें अनेक प्रकार से अंतर था। दोनों ही महापुरुषों के जीवन-चरित व उपदेशों के विशिष्ट रूपों की झांकी यहाँ दी जा रही है।

भगवान महावीर

भगवान महावीर जैनों की तीर्थंकर परम्परा के इस युग के धर्म-युगानुकूलन के अंतिम प्रतिनिधि थे। वे भारत के वैशाली गणतंत्र के प्रसिद्ध उच्चकुलीन क्षत्रिय कुल में जन्में थे। उनका पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा राजमहलों में हुई। वे अत्यन्त बुद्धिमान, ज्ञानी एवं ऋद्धिसम्पन्न थे। अपने राजकीय पर्यटनों में उन्होंने तत्कालीन समाज के अनेक परम्परावादी और अरुचिकर रूप देखे और उन्हें सुधारने हेतु उपायों का चिंतन किया। इस हेतु उन्होंने घर-बार छोड़कर साधना के मार्ग को ही उपयोगी दिशा-निर्देशक माना। वे ३० वर्ष की वय में मुनि बने, १२ वर्ष ध्यान-साधना की और ४२ वर्ष की वय में सर्वज्ञता प्राप्त कर उन्होंने संसार को ही स्वर्ग बनाने का निश्चय किया। उनके वर्षावासों की सूची से पता चलता है कि अपने साधना-काल में उन्होंने भारत के पूरे पूर्वी भाग में परिभ्रमण किया। वे ३० वर्षों के धर्मोपदेशों के बाद ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए।

महावीर के जीवन की अनेक घटनायें लौकिक, लोकोत्तर और चमत्कारिक हैं। इनमें से बाईस घटनाओं का यहाँ उल्लेख अपेक्षित है :

१. लौकिक एवं लोकोत्तर घटनायें

१. इनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान-प्राप्ति एवं निर्वाण के विशेष उत्सव न केवल राजकुल एवं सामान्यजनों ने ही असामान्य रीति से मनायें, अपितु देवताओं ने भी मनायें।

२. उन्होंने देवों से स्पष्ट कहा है कि वे उनकी सहायता से अपनी साधना सफल नहीं बनाना चाहते।

३. यक्ष को अपनी साधना से वशीभूत करना।

४. दीर्घ उपवास की पारणा (पारणा पूर्ण होने) पर प्रथम आहार लेते ही दाता के घर पाँच दिव्य आश्चर्य प्रकट होना।

४ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

(अ) गंधोदक वर्षा (ब) पुष्प वृष्टि (स) सुगंधित वायु का प्रवाह (द) नगाड़ों की ध्वनि (इ) धन्य-धन्य की आकाश व्यापी ध्वनि ।

५. स्कन्ध उत्सव में देवमूर्ति का महावीर के चरणों में वन्दन।

६. विभिन्न रूपधारी देवों द्वारा उनकी (अ) विद्या सम्पन्नता, (ब) बुद्धि चातुर्य एवं (स) वीरता की परीक्षा (आगे देखिये) लेना।

२. दानशीलता

अपनी दीक्षा ग्रहण के पूर्ववर्ती एक वर्ष में वे प्रतिदिन गरीबों को एक करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का दान करते थे। इससे तत्कालीन राजकुलों की सम्पन्नता का पता चलता है।

३. दीक्षाकाल में कष्ट-सहिष्णुता

अपने बारह वर्षीय दीक्षाकाल में उन्हें तीन कोटि के उच्च, मध्यम एवं जघन्य उपसर्ग सहने पड़े।

१. कटपूतना नामक व्यंतरी तथा अप्सरा द्वारा साधना से विचलित होने के अनेक प्रलोभन।

२. संगमदेव द्वारा विभिन्न रूपों में बीस प्रकार की यातना (विचलन के उपसर्ग)।

३. सामान्य जन (ग्वाला आदि) द्वारा कानों में शलाका प्रविष्टि, उन्हें चोर, जासूस आदि के रूप में दंडना।

उन्होंने इन उपसर्गों का धैर्यपूर्वक एवं अंतःशक्ति के बल से सामना किया और उपसर्ग करने वालों को प्रभावित कर अपना भक्त बनाया।

४. उन्होंने साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में केवल ३५० दिन ही आहार लिया।

४. चमत्कारी प्रसंग : विभिन्न वेषधारी देवों का वशीकरण

१. किशोर रूपधारी देव का मुष्टिप्रहार से वशीकरण।

२. ब्राह्मण वेशधारी देव को विद्यालय में विजित करना।

३. चण्डकौशिक सर्प का वशीकरण।

४. शूलपाणि यक्ष का वशीकरण एवं प्रभावना।

५. हस्तिरूपधारी देव का वशीकरण।

५. ऋषि-सिद्धि के उपयोग

१. गोशालक तापस की उष्ण तेजोलेश्या को शांत करने के लिये शीत तेजोलेश्या का विकिरण।

२. क्रोधवश गोशालक द्वारा उन पर प्रक्षेपित उष्ण तेजोलेश्या का गोशालक पर ही प्रत्यावर्तन जिससे वह अशक्त हो गया।

पूर्वोक्तियां

१. गोशालक को विशिष्ट भोजन की पूर्वोक्ति।

२. गोशालक और अन्य भक्तों के भावी जीवन के विषय में अनेक पूर्वोक्तियाँ।

३. अनेक प्रकरणों में भक्तों के पूर्वजन्म की उक्तियाँ।

४. तिल के पौधे का (उखाड़ने के बाद भी) पुनः अंकुरित होने एवं पौधे का रूप लेने की पूर्वोक्ति।

५. सूर्याभदेव, अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण तथा श्रेणिक आदि के पूर्वजन्म की चर्चा तथा उनके उत्तर जन्म की पूर्वोक्तियाँ।

इन सब घटनाओं के कारण उनके जीवन चरित में व्यक्तिगत चमत्कारिकता का अंश जुड़ गया। इनका वर्णन 'कल्पसूत्र' एवं 'आचारांग' आदि ग्रंथों में किया गया है।

यदि पौराणिक परम्परा पर ध्यान न दें, तो महावीर एक सामान्य मानव थे, उनके जीवन में सभी प्रकार की सांसारिक सुख-दुःखपूर्ण घटनायें घटीं। उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव से स्व-पर-सुख संवर्धन के लिये साधना की राह ली, अनेक कष्टों का सामना किया एवं परम अंतर्दृष्टि, रिद्धि-सिद्धि एवं सर्वज्ञता प्राप्त की और वे जन्मजात मानव से परामानव बनें। उन्होंने सभी को परामानव बनने का मार्ग बताया। अनेक जैन ग्रन्थों में महावीर के लिये निम्नलिखित अनेक उपमायें प्राप्त होती हैं, जिनसे उनके व्यक्तित्व, बल तथा आत्मीय पवित्रता, निस्संगता आदि गुणों की गरिमा का भान होता है-

१. चलता-फिरता विश्वविद्यालय, २. पारसमणि, ३. जादूगर, ४. हाथी, ५. बैल, ६. सिंह, ७. सुमेरु, ८. पृथ्वी, ९. शंख १०. कमल-पत्र, ११. वायु, १२. आकाश, १३. शारदीय जल आदि।

उनके ग्यारह प्रमुख शिष्य (गणधर) थे। वे सभी उच्च ब्राह्मण वर्ग के थे। राजकुल से सम्बन्धित होने के कारण उनके आरम्भिक अनुयायियों में अनेक राजकुलों के सद्स्य भी थे। बाद में उनके उपदेशों की हितकर्ता के आधार पर सभी जाति व वर्गों के लोग उनके अनुयायी बने। उन्होंने अपने अनुयायियों को चार कोटियों में संघबद्ध कर अनुशासित किया। ग्रंथों से पता चलता है कि उन्होंने सभी वर्ग के प्राणियों को समवसरण नामक धर्मसभाओं में तीस वर्ष तक तत्कालीन जनभाषा अर्धमागधी में सन्मार्ग का उपदेश दिया। उनकी धर्म-सभायें वैशाली, चम्पा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, हस्तिशीर्ष, हेमांगद (कर्नाटक), सूक्षक (दक्षिण), कलिंग (उड़ीसा), बंगाल, मत्स्य (राजस्थान), उज्जैन (मध्यप्रदेश), दशार्ण (म०प्र०), पंचाल, सुम्ह (बंगाल), पोतनपुर (काशी) तथा श्वेताम्बिका (केकयार्ध), हस्तिनापुर, वर्धमानपुर (बंगाल), प्रयाग, अयोध्या, वाराणसी, काकंदी, संधु-सौबीर आदि क्षेत्रों में हुई। 'हरिवंशपुराण' तो इन्हें तक्षशिला और अफगानिस्तान में भी मानता है।

उनके उपदेश सामान्य और साधुजन- दोनों के लिये थे। उनके उपदेशों का सार निम्न है -

१. अनेकांत, अपरिग्रह और अहिंसा की त्रिपुटी का त्रिकोटिक एवं स्तरानुसार पालन। २. संसार और उसके घटकों में उत्पाद और विनाश के साथ ध्रौव्य की त्रिपदी। ३. सभी आत्मायें समान क्षमता वाली हैं। ४. प्राणी स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। ५. सम्यक्-श्रद्धा, ज्ञान और सदाचार का पालन सुख का मार्ग है। ६. धर्म केवल व्यक्तिगत ही नहीं है, समाज, राष्ट्र और विश्वगत भी है।

उनके निर्वाण के समय उनके अनुयायियों की संख्या पांच लाख से कुछ अधिक थी। इनमें पार्श्व-परम्परा के साधु, अन्यमती, परिव्राजक, आठ राजा, श्रेणिक के पुत्र और रानियां, धनकुबेर, आर्येतर, आर्दक, हरिकेशी चंडाल तथा हत्यारा अर्जुनमाली और अष्टारह गणों के नरेश आदि समाहित हैं। उन्होंने कोई नई परम्परा नहीं चलायी, अपितु प्रवर्तमान जिन परम्परा को युगानुकूलित कर संरक्षित किया और स्थायित्व प्रदान किया।

उन्होंने धर्मोपदेश तथा आत्मधर्म का प्रचार- ये दो कार्य किये। उनके उपदेश सामान्य जीवन की घटनाओं के उदाहरणों एवं प्रश्नोत्तरों से पूर्ण, आकर्षक एवं ज्ञानवर्धक होते थे। उनके गणधर और उत्तरवर्ती आचार्य ही अनुयायियों की विविध कोटियों के अनुशासक बने। ये पदयात्री रहे और जनसम्पर्क भी। उन्होंने ही महावीर के उपदेशों को बारह पवित्र ग्रंथों के रूप में संग्रहीत किया, जिनमें सैद्धांतिक, विश्वकोशीय एवं कथात्मक विवरण हैं। इनका लिखित रूप पांचवी सदी के आस-

पास सामने आया। इनकी प्राकृत एवं संस्कृत में व्याख्यायें लिखी गईं और बीसवीं सदी में इनका हिन्दी में अनुवाद हुआ। इनका अंग्रेजी अनुवाद भी अब उपलब्ध है, पर ईसाई साहित्य की तुलना में यह अल्प प्रसारित ही है।

महात्मा जीसस

महात्मा जीसस अब्राहम, मूसा, ईसाई या जैरामिक आदि संतों की परम्परा के अन्तिम धर्म-युगानुकूलन के प्रतिनिधि थे। इनके पूर्ववर्तियों ने भविष्य में ईश्वर-पुत्र के विषय में भविष्यवाणियाँ की थीं। यद्यपि जन्म के समय इनका नाम जीसस था, पर बाद में इन्हें अनेक नामों से पुकारा गया- जीवित और मृत व्यक्तियों के न्यायाधीश, ईश्वर-पुत्र, जगत्-प्रकाश, जीवन के राजकुमार, भेड़ों के गड़रिया, इसरायल का (आध्यात्मिक) राजा, पवित्र आत्मा और यहाँ तक कि ईश्वर आदि। इनकी जन्मकथा एक देवदूत के माध्यम से यहूदी कन्या कुमारी मेरी से प्रारम्भ होती है। अपने परिवार के साथ अपने देश जाते समय इनका जन्म बेटलहम की एक घुड़साल में हुआ। उस समय उस ओर के देशों में राजतंत्र था तथा सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति शोषण-शोषक जैसी थी। इनके पिता मध्यम राजवर्ग के विश्वकर्मा थे, जिन्होंने उसे घरेलू धंधा सिखाया एवं यहूदी धर्म के विषय में आरम्भिक शिक्षण दिया। बाल्यकाल में ही महात्मा जीसस यहूदी धर्म-सभा में जाने लगे और छः वर्ष की उम्र से वे स्थानीय धार्मिक स्कूल में पढ़ने लगे। १२ वर्ष की उम्र में वे यरुशलम गये और वहाँ के उच्चतर धर्म-स्कूल के शिक्षकों से अध्ययन किया और चर्चार्थे की। उनके सगे या सौतेले चार भाई और कुछ बहिने थीं अपने प्रारंभिक जीवन में वे परिवार के अनुशासन में विकसित हुए। वे अपने से अनेक बार यरुशलम (यहूदियों का मुख्य केन्द्र) गये। एक बार उन्होंने वहाँ के मंदिर-परिसर में विद्यमान पशु एवं विनिमय व्यापार को परिसर से बाहर कराया। इससे लोग उन्हें जानने लगे। उनके उपदेशों में नवीनता थी, इससे कुछ लोग उनसे अप्रसन्नता भी व्यक्त करते थे। ऐसे अवसरों पर वे प्रायः अपनी ऋद्धि शक्ति का उपयोग कर पर्वतीय उपत्यकाओं में या अन्यत्र चले जाते थे।

उनकी १२-३० वर्ष के जीवन की कथा अनुमेय है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे इन दिनों ईरान-ईराक आदि क्षेत्रों में अपने कुल-वंशियों की खोज में गये हों और उनसे अपने जीवन के कार्य की योजना पर चर्चा की हो। यह भी सम्भव है कि वे भारत के समान पूर्वी देशों में साधना और ज्ञान प्राप्त करते रहे होंगे। ईसा के जन्म से सदियों पूर्व ईरान, यूनान और अन्य देशों में महावीर और बुद्ध के शिष्य पहुँच चुके थे और उनका वहाँ अच्छा प्रभाव था। संभव है, इसी से वे आकृष्ट हुए हों और पूर्वी देशों में गये हों। उनके उपदेशों में पूर्वी संस्कृति के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

तीस वर्ष की वय में उन्होंने यहूदीकरण कर्ता जोन से दीक्षा ली और ४० दिन तक पर्वत की उपत्यकाओं में ध्यान और साधना की। इससे उन्हें अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुईं और उनके जीवन का लक्ष्य दीनों की सेवा तथा ईश्वर के राज्य की स्थापना हो गया। सन् २९ में ध्यान-साधना के समय असुरों ने उन्हें साधना से विचलित होने के कम-से-कम तीन बार प्रलोभन दिये, पर वे अपनी साधना से विचलित न हुए। उनकी प्रकृति प्रसाद, विश्वास, शांति और करुणापूर्ण थी ईश्वर में विश्वास के माध्यम से उन्होंने जीवन में आशावादी वृत्ति उत्पन्न की और लगभग चौदह कोटि के दीनों के लिये स्वर्ग का राज्य आने वाला है, का उपदेश देकर उन्होंने समाज के ९० प्रतिशत जनसमुदाय में प्रतिष्ठा और अनुगामिता पाई। वे दीनों से बड़ा स्नेह करते थे और उनके साथ भोजन और आवासन भी करते थे। वे दीन ही सर्वाधिक संख्या में उनके अनुयायी बने।

१. इन्होंने अपने दीक्षोत्तरी जीवन में गैलिली, जूदा, यरुशलम और उससे जुड़े क्षेत्रों में प्रवचन, प्रचार, सेवाकार्य और अनेक चमत्कारी कार्य किये।
२. अनेक भविष्यवाणियाँ की।
३. स्वर्ग के राज्य का रूपक चित्र प्रस्तुत किया।
४. अपनी मृत्यु का पूर्वाभास किया।
५. अपने क्रांतिकारी उपदेश तत्कालीन जनभाषा (हैब्रू) में दिये।
६. इन्होंने उपदेश प्रसार हेतु अपने १२ प्रमुख शिष्यों एवं ७० धर्म-प्रचारकों को प्रेरित किया।
७. विश्रांति-दिवस पर भी रोगियों की सेवा की।
८. उनके जीवन में चार कोटि की ३५ चमत्कारिक घटनायें पाई जाती हैं-
 - (अ) इन्होंने अट्टारह विभिन्न कोटि के रुग्ण व्यक्तियों को स्पर्श, वचन, दृष्टि तथा संकल्प से उपचारित किया।
 - (ब) इन्होंने पाँच प्रकरणों में भूतावेश-निवारक काम किया।
 - (स) इन्होंने नौ प्राकृतिक शक्तियों पर विजय पाने के चमत्कार दिखाये।
 - (द) इन्होंने तीन व्यक्तियों को मृतोत्थित किया एवं स्वयं भी मृतोत्थित हुये।

उनके उपदेश मौलिक रूप से यहूदी धर्म के समान ही थे, पर उन्होंने उनमें युगानुरूप परिवर्तन किया। तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए उन्होंने अपने उपदेश नीति-कथाओं, पौराणिक कथाओं, रूपक, उपमा तथा अन्य अलंकारों की भाषा में परोक्षतः दिये, जैसा भारत के 'पंचतंत्र' की कथाओं में पाया जाता है। इनके शिष्यों को भी उनके रहस्यों को स्पष्ट करने की आज्ञा नहीं थी। रूपकमय भाषा सदैव रहस्यमय एवं भ्रामक होती है। इसके कारण ही ईसाई धर्म के सभी सिद्धांतों का सही रूप में एवं सरलता से ज्ञान और प्रचार नहीं हो सका। यह धर्म भी परम्परावाद में जकड़ गया। सारणी-२ में कुछ शब्द और उनके रहस्यात्मक अर्थ दिये जा रहे हैं जो सामान्य बाइबिल पाठकों के लिये उपयोगी होंगे। इनके उपदेशों में ४० दृष्टांत भी पाये जाते हैं।

सारणी - २ - बाइबिल में रूपक और उनका अर्थ

क्र०	रूपक शब्द	अर्थ
१.	स्वर्ग	पाप से मुक्ति, जगत् का उच्चतर भाग
२.	सांप	आनन्द, असुर
३.	मेमना	सरलता की मूर्ति, नव शिशु
४.	मुकुट	अतिशांति
५.	मृत	आध्यात्मिकतः मृत, भौतिकतः जीवित
६.	आंख	प्रकाश
७.	टिड्डी/शहद	मधुर आध्यात्मिक पथ
८.	ऋण	पाप या दोष
९.	सांप का विष	इच्छायें
१०.	शैतान	इच्छायें
११.	मृत्यु	आत्मा की निंदा, दण्ड
१२.	ईश्वर को देखो	स्वर्ग के राज्य में प्रवेश
१३.	हवा में पक्षी	देव-दूत
१४.	प्रज्ञात्मक अग्नि	त्याग, परिग्रह छोड़क, संन्यास
१५.	अंतिम दिन	जगत् का अंत
१६.	मांस	सद्विश्वास, निष्पाप आत्मा

१० : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

- | | | |
|-----|-----------------------------|---|
| १७. | पशु | जीसस का शत्रु, विभिन्न प्रकार के प्राणी |
| १८. | नरक | दुःखी प्राणी, जगत् का निम्नतर भाग |
| १९. | जीसस का शरीर | धर्म के सिद्धांत गिरजाघर |
| २०. | बगीचा | आत्मा |
| २१. | वृक्ष | गुण |
| २२. | जीवन-वृक्ष | प्रज्ञा |
| २३. | ज्ञान-वृक्ष | परीक्षण योग्यता |
| २४. | माता | धर्म |
| २५. | पिता | ईश्वर |
| २६. | किसान | तर्क-बुद्धि |
| २७. | दूल्हा | पश्चातापी |
| २८. | पवित्र आत्मा | पूर्ण त्यागी आत्मा |
| २९. | मेमना की शादी | मूर्तिपूजा |
| ३०. | जीसस का रक्त | ईसा के सिद्धांत |
| ३१. | चोर और डाकू | झूठे, मिथ्यात्व |
| ३२. | सात शैतान | ४ कषायें और ३ मिथ्यात्व |
| ३३. | जीवन-वृक्ष की
१२ शाखायें | बारह अंग, १२ मुख्य शिष्य, ८ प्रचारक |
| ३४. | पुनर्जीवन/मृतोत्थान | मुक्ति/उद्धार |
| ३५. | पतली लिनेन | सदाचार |
| ३६. | न शांत होने वाली
अग्नि | अनंत दुःखमय जन्म-मरण |
| ३७. | अंगूर लता | ईश्वर |
| ३८. | क्राइस्ट | देवत्व, ईश्वरपुत्र |
| ३९. | शूली पर चढ़ाना | पाप का नाश होना |
| ४०. | सप्त प्रकारी स्पिरिट | प्रज्ञा, ज्ञान, करुणा, ईश्वर-भीरुता, मार्गदर्शन,
अवबोध, सामर्थ्य |

अपने उपरोक्त कार्यों से वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गये और लोग उन्हें इसरायल या यहूदियों का राजा कहने लगे। यहूदी तंत्र को विश्वास था कि आनेवाला देवदूत इसरायल को रोमन आधिपत्य से मुक्त करायेगा। पर वह तो 'पापों' से मुक्ति कराता था और आत्मिक उत्थान की बात करता था। ईसा के जन-समर्थन के कारण रोम के राजा को राजद्रोह की आशंका होने लगी। फलतः वहाँ का राजतंत्र और पुरोहित तंत्र उनसे नाराज हो गया। उन पर अनेक आरोप लगाये गये। जिनमें राजद्रोह को भड़काना एवं मायावीपन प्रमुख थे। इन आरोपों के कारण उन्हें शूली पर लटका दिया गया। उनकी मृत्यु ७ अप्रैल २४ को हुई। उनका जीवन-काल तेतीस वर्ष का रहा।

मृत्यु के तीन दिन बाद महात्मा जीसस मृतोत्थित हुए और ४० दिन के बीच तो वे अनेक बार मृतोत्थित होकर शिष्यों के बीच आये, उन्हें उपदेश एवं मार्गदर्शन दिया। इसके बाद वे स्वर्ग के राज्य में स्थायी रूप से अनन्त जीवन का आनन्द ले रहे हैं। संभवतः ईश्वरीय न्याय के दिन वे पुनः अवतरित हों।

अपने जीवनकाल में प्रमुख शिष्यों को, जो सभी दीन की कोटि के थे। उन्होंने उन्हें अपने उपदेशों के प्रसार की विधि और उसमें आने वाली कठिनाइयों व उनके सहन करने की शिक्षा दी। बाद में उन्होंने सत्तर और धर्म प्रचारक चुने। जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों एवं देशों में धर्म-प्रचार एवं विस्तार का काम किया। वे परम्परागत धर्म में सुधार ही नहीं करना चाहते थे, अपितु वे धर्म, राजनीति और सभी क्षेत्रों में क्रांति के विगुल बजाकर युगानुकूलन करना चाहते थे। उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं बनाया और न ही कोई स्वतंत्र धर्म संस्था की ही स्थापना की। पर उनके समर्थकों ने उनके नाम से ही धर्म संस्था चालू कर दी। उत्तरवर्ती काल में उनके स्वर्ग के राज्य के अभिलाषियों की संख्या इतनी अधिक होती गई कि वह विश्व की प्रथम धर्म-संस्था बन गई।

उनके चार शिष्यों ने पहली सदी के मध्योत्तर काल में अपनी स्मृतियों के आधार पर चार खण्डों की २७ लघु पुस्तकों में पवित्र धर्म-नियमों को प्रस्तुत किया। जिसे नये धर्म-नियम (न्यू टेस्टामेंट) कहा गया। अनेक शिष्यों द्वारा लिखित होने के कारण इसमें पर्याप्त पुनरावृत्ति है, पर सभी उनके उपदेश और मान्यताओं का सार देते हैं। अनेक विद्वानों के अनुसार, ये अत्यन्त संक्षिप्त और असम्बद्ध हैं। पर इन्हें ईश्वर-प्रेरित कहकर ईसाईजन विश्वसनीय मानते हैं, क्योंकि ईसा एकेश्वरवादी थे और अपने को ईश्वरपुत्र कहते थे।

नये धर्म नियम भी यहूदियों में प्रचलित पुराने धर्म नियम की पुस्तक में संयोजित हुए और यह 'होली बाइबिल' कहलाई। सम्पूर्ण बाइबिल में पुराने और नये धर्म-नियमों

की कुल ६६ लघु या मध्यम आकार की पुस्तकें हैं। उनका अधिकृत संस्करण ३९७ ई० में स्वीकृत किया गया। दूसरी से चौथी सदी के बीच इसके तत्कालीन भाषाओं में अनुवाद हुए। अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करते हुये १४-१६वीं सदी के बीच इसका अंग्रेजी तथा जर्मन में अनुवाद हुआ। अब तो इसका अनुवाद विश्व की लगभग ३३० भाषाओं में हो गया है और प्रायः ६०० अन्य भाषाओं में इसका अनुवाद और हो रहा है। इसीलिये यह विश्वव्यापी प्रचार पा रहा है।

विभिन्न ग्रन्थों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक ओर जहाँ महावीर और जीसस के द्वारा युगानुकूलित धर्मों में पर्याप्त समानतायें हैं, वहीं दूसरी ओर पर्याप्त विभिन्नतायें भी हैं। समानताओं के आधार निम्न हैं-

अ. जीवन-चरित में समानता

१. दोनों ही राजकुलीन वंश के हैं।
२. दोनों का ही पूर्वी देशों में जन्म हुआ है।
३. इनकी मान्यतायें पूर्वी देशों के एक ही भू-भाग का आध्यात्मिक चरित्र लिये हुए हैं।
४. दोनों ने ही धर्म-सुधार और आत्मधर्म के प्रचार का कष्टकारी मार्ग अपनाया।
५. दोनों ने विवाह नहीं किया। (जैनों का श्वेताम्बर सम्प्रदाय महावीर का विवाह मानता है।)
६. दोनों ने साधु के समान एकाकीपन एवं सार्वजनिक जीवन अपनाया।
७. दोनों ने ही प्रार्थना, ध्यान एवं एकाकीपन का अभ्यास कर रिद्धि-सिद्धि पाई। दोनों ने ही पश्चाताप (प्रायश्चित्त), क्षमा और ध्यान (आत्म/ईश्वर प्रेम) का उपदेश दिया।
८. दोनों ने ही परम्परागत पर विकृत अनेक धार्मिक या सामाजिक मान्यताओं का युगानुकूलन किया। इनमें पुरोहितवाद एवं हिंसा-प्रधान क्रियाकाण्डों का विरोध समाहित है।
९. दोनों ने ही तलाक और व्यभिचार का विरोध किया, पर स्त्री को पुरुष से हीन ही माना। मुक्ति पुरुष को ही हो सकती है।
१०. दोनों ही पर-मत मानने वालों को शाप देते हैं, उन्हें मिथ्यात्वी या शत्रु मानते हैं।

इन समानताओं के विपर्यास में, दोनों ही महापुरुषों की जीवन-पद्धति, अध्ययन, उपदेश एवं प्रचार-तंत्र में पर्याप्त विभिन्नताएँ भी परिलक्षित होती हैं।

ब. जीवन-चरित की विविधता

१. एक ओर महावीर का जीवन-चरित सम्प्रदायानुसार है, वही ईसा का जीवन-चरित सभी ईसाई सम्प्रदायों में एक-सा माना जाता है।

२. जहाँ महावीर राजकुलीन वातावरण में पल्लवित एवं शिक्षित हुए, वहाँ महात्मा जीसस राजकुलीन होते हुए भी बड़ईगरी के मध्यम-व्यवसायी जोसेफ के यहाँ पालित, पोषित एवं शिक्षित हुए।

३. महावीर का शिक्षण राजगुरुओं के द्वारा ७२ कलाओं में प्रवीणता के रूप में हुआ, वहीं ईसा का शिक्षण स्थानीय धर्म-स्थलों में हुआ। उनका उच्चतर शिक्षण कितना हुआ, यह अच्छी तरह ज्ञात नहीं है। उन्होंने यरुशलम में रब्बियों से २ वर्षों तक अनेक आश्चर्यजनक चर्चायें अवश्य की थीं।

४. महावीर ने विधिवत साधु-दीक्षा ली, १२ वर्ष तक साधना एवं तपस्या की, वहीं ईसा ने वपतिस्माई ज्ञान से यहूदीकरण स्वीकार किया और मात्र चालीस दिन ही पर्वत की उपत्यकाओं में ध्यान लगाया, पर दोनों की रिद्धि-सिद्धियों और उनकी कोटि में अंतर था। महावीर तो सर्वज्ञ ही हो गये।

५. दीक्षोत्तरी जीवन में महावीर सदैव पदयात्री (एक अवपाद को छोड़कर) रहे। यह परम्परा जैन साधुओं में अब भी चालू है (कुछ विदेश जाने वाले छोड़कर)। यही जैनों की परम्परा की सन्नतता का कारण है। इसके विपर्यास में, ईसा ने यातायात के अन्य साधनों का उपयोग भी किया।

६. महावीर के जीवन की घटनाओं में अनेक पूर्वोक्तियाँ हैं, उनके कुछ यक्ष-वशीकरण के भी उल्लेख हैं। इनके जीवन में उपसर्ग सहिष्णुता के सीमांत हैं और चमत्कारिक घटनाएँ भी हैं जो पूर्व में उल्लिखित की गई हैं। इसके विपर्यास में, महात्मा ईसा के जीवन में चमत्कारिकता की विविधता बहुत अधिक है। इस सम्बन्ध में तीन कोटियों के अन्तर्गत ३५ उदाहरण बाइबिल में मिलते हैं। इनका विवरण पूर्व में दिया गया है। संभवतः यही चमत्कारिकता उनकी उत्तरवर्ती प्रभाविता का कारण बनी हो। महावीर की चमत्कारिकता प्रायः व्यक्तिगत रही, जबकि ईसा के चमत्कारों से सामान्य जन भी लाभान्वित हुये।

७. महावीर का धर्मोपदेशन काल ३० वर्ष है, जबकि ईसा का कार्यकाल एवं उपदेशन काल मात्र तीन-साढ़े तीन वर्ष ही है। महावीर का उपदेशकालीन विहार-

क्षेत्र ईसा से पर्याप्त मात्रा में अधिक रहा। (वर्तमान बंगाल से लेकर राजस्थान तक का प्रायः १००० मील का क्षेत्र) इसके विपर्यास में, ईसा का विहार काल काफी कम था।

८. दोनों ही महापुरुष अध्यात्मवाद मानते हैं, पर ऐसा लगता है कि महावीर के उपदेशों में आत्मवाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं कर्मवाद की प्रधानता थी, जबकि महात्मा ईसा के उपदेशों में ईश्वर की दया, करुणा और भौतिकवाद की प्रधानता थी। सामान्य जन अध्यात्मवाद से प्रभावित तो होता है, पर वह उसे अपने जीवन में उतार नहीं पाता। यही कारण है कि महावीर के उपदेश बहु-प्रचारित एवं प्रभावी नहीं हो सके।

९. महावीर ने नरक की स्पष्ट धारणा रखी है। इसके विपर्यास में, ईसा के धर्म में नरक की स्पष्ट धारणा तो नहीं है, पर वे 'शोधन स्थान' तो मानते ही हैं जहाँ पापी अपने पापों के कारण दुःख भोगते हैं।

१०. महात्मा ईसा यहूदी जाति के प्रति विशेष अनुरागी थे, पर महावीर सबके प्रति समभावी थे।

११. पश्चिम में ईसा के जीवन पर १८९७ से ही सिने-फिल्में बनने लगी थीं। इनकी संख्या दो दर्जन से भी अधिक हैं। एक ताजी फिल्म 'पैशन प्ले' तो अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई है। इसके विपर्यास में, महावीर के जीवन और उपदेशों पर कोई अच्छी फिल्म ही देखने में नहीं आई। प्रचार-प्रसार माध्यमों के युग में यह कमी खटकने वाली है।

१२. महावीर का निर्वाण (मृत्यु) सामान्यतः आयु कर्म के क्षय एवं तीस वर्षों के उपदेशों के बाद ७२वें वर्ष में हुआ जिसका उत्सव 'दीपावली' के रूप में मनाया गया। इसके विपर्यास में, राजनीतिक एवं धार्मिक अनुदार प्रवृत्ति के लोगों ने उनके एक शिष्य से जासूसी कराकर ईसा को मृत्युदंड दिया। यह करुण दृश्य बना। फिर भी, उनके अनुयायियों ने इस घटना को जनता में 'पाप से मुक्ति' के रूप में प्रभावी ढंग से प्रसारित किया।

उपदेशों में समानता

भगवान महावीर और महात्मा ईसा के अनेक उपदेशों में समानता पाई जाती है। तथापि, दोनों की अनेक मान्यतायें नाम-रूपेण ही समान लगती हैं, परिभाषात्मक रूप से उनका रूप भिन्न-भिन्न पाया जाता है। इस सम्बन्ध में कुछ बिन्दु निम्नलिखित हैं-

१. दोनों ही अपरिग्रह (संपत्ति-त्याग) और सह-भाजन-संविभाग को मुक्ति का एक उपाय बताते हैं।

२. दोनों ही यह मानते हैं कि सभी संसारी जीव मूलतः पापी या दुःखी (चाहे कर्मवाद के कारण या ईश्वर के उपदेश की अवज्ञा के कारण) हैं। पाप-मुक्ति या दुःख-मुक्ति अनंत जीवन पाने का मार्ग है।

३. अमर आत्मा और मुक्ति की धारणा दोनों मानते हैं।

४. दोनों ने ही चार कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) को छोड़ने का उपदेश दिया है। वस्तुतः सभी कषायों की एक सीमा तक जीवन में उपयोगिता है। सीमा का उल्लंघन ही हानिकर कष्टकर होता है।

५. प्रलय का निराशावादी वर्णन दोनों धर्मों में समान है। लोगों में धर्म-विहीनता क्रमशः बढ़ती जायेगी।

६. दोनों ही प्रार्थना, भजन व ध्यान और महात्माओं के उपदेशों में विश्वास को आत्मिक उन्नति में महत्त्व देते हैं। दोनों के ही उपदेश आत्मिक उत्थान को महत्त्व देते हैं।

७. दोनों ही साप्ताहिक विश्रांति दिवस मानते हैं। महावीर पक्ष की अष्टमी एवं चतुर्दशी को व्रत मानते हैं। महात्मा ईसा सातवें दिवस- रविवार को विश्रांति दिवस मानते हैं।

८. महावीर के दश धर्म और पांच व्रतों की मान्यता ईसा के दस आदेशों में पाई जाती है।

९. दोनों ही उपवास और अवमौदर्य (भूख से कम खाना) व्रत को मानते हैं।

१०. दोनों ने ही मांसाहार एवं मदिरा-पान को अशिष्ट व्यवहार बताया है।

११. दोनों ही महापुरुषों ने स्त्रियों के समानाधिकार का विधान करके भी पुरुष की ज्येष्ठता मानी है और उन्हें मुक्ति का अधिकार भी नहीं दिया है। वे चर्च में बोल भी नहीं सकती, वे बिना सिर ढके वहाँ नहीं जा सकती। जैन आगम और बाइबिल इस प्रकरण में मौन हैं। जैनों में तो महिला साध्वियों तथा मुक्ति प्राप्त महिलाओं के पर्याप्त उल्लेख पाये जाते हैं, पर बाइबिल में इस कोटि का उदाहरण नहीं पाया जाता है।

१२. दोनों ने ही पर-स्त्रीगमन तथा तलाक का विरोध किया है।

१३. भगवान महावीर ने अगले ४२००० या उससे अधिक वर्षों तक किसी के मुक्त न होने का संकेत दिया है। महात्मा ईसा ने भी साढ़े तीन वर्ष (४२ माह; १ माह = १००० वर्ष) तक स्वर्ग के द्वार के बंद होने अथवा किसी के मुक्त न होने की बात कही है।

१४. दोनों ने ही परम्परागत पुरोहितवाद का विरोध किया है।

१५. मुक्ति के विज्ञान का उपदेश दोनों ही महात्माओं ने दिया है। उनकी मान्यता है कि संसार-प्रेम और मुक्ति-प्राप्ति में विलोम सम्बन्ध है।

१६. भगवान महावीर ने दो प्रकार के प्राणी माने हैं :

अ. भव्य- जिसमें मुक्त होने की क्षमता है।

ब. अभव्य- जिसमें मुक्ति की क्षमता नहीं है।

ईसा भी कहते हैं कि स्वर्ग के राज्य का द्वार बहुत ही संकीर्ण है। उसमें चुने हुए (भव्य) जीव ही प्रवेश कर सकते हैं।

१७. महावीर सभी आत्माओं में समान क्षमता मानते हैं और सभी में ईश्वर होने की क्षमता मानते हैं। इसके विपर्यास में, ईसा 'सभी आत्मायें समान' हैं मानते हैं, साथ ही 'ईश्वर तुम्हारे अंदर ही है' मानकर भी सभी में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की क्षमता नहीं मानते हैं लेकिन ईश्वर द्वारा पाप-मुक्ति के बाद ईश्वर के बगल में बैठा देते हैं। यह मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह से ही मिलती है। इसके विपर्यास में, जैनों का ईश्वरत्व ज्ञान ध्यान, साधना और तपस्या से कर्म-मल या दुःख दूर कर ही पाया जा सकता है।

१८. दोनों ही 'ॐ' एवं 'ओमेन' (तथास्तु) की पवित्रता व सामर्थ्य स्वीकार करते हैं।

१९. दोनों के उपदेश सामान्य जीवन में दृष्टिगोचर उदाहरणों से भरपूर होते थे। ईसा के इन उदाहरणों का अनेक पुस्तकों में उल्लेख है, पर महावीर के उदाहरणों का संकलन अभी नहीं हुआ है।

२०. महावीर ने पांच मूढ़ताओं - देव, पाखंड, तीर्थ, जातिबंधन और क्रियाकांड को छोड़ने का उपदेश दिया है। महात्मा ईसा भी इसे मात्र संकेत के रूप में व्यक्त करते हैं।

उपदेशों में विभिन्नता :

दोनों महापुरुषों के उपदेशों में उपरोक्त समानताओं के बावजूद उनके अनेक मौलिक उपदेशों में भिन्नता पाई जाती है तथा कुछ अपूर्णतायें भी हैं। इनका संक्षेपण निम्न है -

१. महात्मा ईसा का धर्म मुख्य रूप से एक ईश्वरवाद की धारणा पर आधारित है। यह ईश्वर को जगत्कर्ता, जगन्नियंता एवं अनंत सुखमय जीवन देने वाला मानता है। यह स्वर्ग के राज्य का मनोवैज्ञानिकतः आकर्षक चित्र प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार, ईसा ईश्वर-पुत्र ही है जिसने दूसरों के पापों के लिये अपना बलिदान देकर अनंत सुख पाया है। वह हमारी सेवा करना चाहता है, अपनी सेवा (पूजा) नहीं कराना चाहता। वह वीतरागी, उदासीन व सर्वोत्तम नहीं है। वह तो मानव सेवी है। ईश्वरवाद की धारणा के चार आधार हैं :

अ. ईश्वर संरक्षक एवं सुरक्षक है।

ब. ईश्वर का स्वरूप आदर्शवाद की दृष्टि देता है।

स. ईश्वर हमें नैतिक व्यवहार की प्रेरणा देता है।

द. ईश्वर हमें आध्यात्मिक शक्ति का अनुभव कराता है।

फलतः ईश्वर से प्रेम और उसमें विश्वास हमारे जीवन को पाप-मुक्त बनाने में सहायक होता है। ईसाई धर्मग्रन्थों ने ईश्वर के अस्तित्व के विषय में बुद्धिवाद का सहारा नहीं लिया है। इसे वे स्वतःसिद्ध अवधारणा के रूप में लेते हैं। वे ईश्वर को अदृश्य पर महादयालु और महासत्ता के रूप में मानते हैं। वे उसमें भक्ति और समर्पण को ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। वे मानव-जीवन को ईश्वराधीन मानते हैं।

इसके विपर्यास में, जैन अनीश्वरवादी हैं। वे प्राणियों के जीवन को परतंत्र नहीं मानते, उसके विकास को स्वावलम्बन का आधार देते हैं। उन्होंने ईश्वर की धारणा को स्वतःसिद्ध अवधारणा नहीं माना है और बुद्धिवाद के आधार पर इस धारणा का अनेक ग्रंथों में खण्डन किया है। उनके अनुसार, 'सृष्टि एक महान कार्य है, अतः घट आदि कार्यों के समान उसका कर्ता होना चाहिए' के तर्क में 'कार्य' शब्द का अर्थ ही विवादग्रस्त हो जाता है। कार्य का अवयवी असत् से सदरूप होना, कृतबुद्धित्व या विकारवत्त्व के रूप में परिभाषित करने पर ईश्वर अनित्य और विकारी सिद्ध होता है। साथ ही, गम्भीर विचार करने पर, अनवस्था और चक्रक आदि अनेक दोष आते हैं। इसके अतिरिक्त, अशरीरी ईश्वर में ज्ञान, इच्छा व प्रयत्न कहाँ से होंगे? वह क्रिया कैसे कर सकेगा? ईश्वर की अदृश्यता उसकी विशिष्ट जाति से भी नहीं सिद्ध की जा सकती। और भी, ईश्वर न तो अपनी निष्क्रिय उपस्थिति मात्र से, न ही ज्ञान या ज्ञानेच्छा-प्रयत्न से और न अपने ऐश्वर्य से ही सृष्टि-रचना कर सकता है।

इसी प्रकार, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि ईश्वर सृष्टि क्यों करता है? स्वेच्छा से, प्राणियों के पुण्य-पाप से, दया से या मनोविनोद के लिये? इन प्रश्नों पर विचार

करने पर भी ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। साथ ही, ईश्वर जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता, क्योंकि उसके पास घर के लिये मिट्टी आदि के समान निर्माण के साधन नहीं हैं और नित्य होने से वह क्रियाशून्य भी है। मत-मतांतर के शास्त्रों को भी ईश्वर का बनाया नहीं मान सकते, अन्यथा उनमें ईश्वर का ही खण्डन-मण्डन क्यों होता? फलतः तर्कवाद से ईश्वर एवं उसके सृष्टिकर्तृत्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी पृष्ठभूमि श्रद्धा ही हो सकती है जहाँ तर्क काम नहीं करता।

भगवान महावीर ने सृष्टिकर्ता ईश्वर के बदले सर्वज्ञानी ईश्वरत्व का मत प्रस्तुत किया है। यह क्षमता सभी प्राणियों में है, जो कर्मों के कारण तिरोहित रहती है। यह तिरोहण प्रार्थना, भजन (भक्तिवाद) एवं ध्यान, तपस्या (साधना) आदि से आविर्भाव (वस्तुधर्म) में बदल जाता है। इससे मानव स्वयं ही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत शक्तिमान् व अनंत सुखी बन जाता है। फलतः भगवान महावीर एक ईश्वर के बदले अनेक या अनंत ईश्वरवाद की स्थापना करते हैं। अतः वे निपट अनीश्वरवादी नहीं हैं, अपितु अनेक व्यक्तिगत ईश्वरवादी हैं।

कई ईसाई लेखकों और विद्वानों ने जैनों की मान्यताओं पर ईश्वर को न मानने के कारण अनेक आरोप लगाये हैं। इनमें अधिकांश आरोप जैन धर्म के सिद्धांतों की सम्यक् जानकारी न होने के कारण हैं। जैन मनुष्य को स्वयं ही अपना भाग्यविधाता मानते हैं। अतः उन्हें ईश्वर के (१) प्रसाद, (२) क्षमादान या (३) करुणा की आवश्यकता नहीं है। वे अपने पाप कर्मों या दुःखों को साधना के द्वारा निर्जरित कर पवित्रता प्राप्त करते हैं। फलतः उन्हें ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता नहीं है।

जैन धर्म को समझे बिना ही 'पलायनवादी' या 'निराशावादी' कहना अत्यन्त भ्रामक है। स्वर्ग-मोक्ष की, अपने या दूसरों के कल्याण की प्रत्याशा आशावाद में ही हो सकती है। जैन साधु अपना घर-बार छोड़ता है और सारे विश्व को अपना परिवार मानने लगता है। इसमें पलायनवाद नहीं, व्यक्तित्व का विलोपन है जो विश्वास एवं समर्पण की प्रक्रिया में होता है। यह स्वयं एवं समाज के सुख-वर्धन का प्रतीक है। इसमें पलायन या निराशा कहां दिखती है?

जैन साधु एवं गृहस्थ अपने आध्यात्मिक उत्थान के साथ अपने उपदेशों एवं प्रवृत्तियों द्वारा दूसरों की भी प्रगति के मार्गदर्शक होते हैं। उनका उद्देश्य आत्महित के साथ परहित का युगपत् सम्पादन है। जैनों के मुक्त एवं सिद्ध जीव कृतकृत्य होने पर अनंत सुख एवं अमरत्व में रह रहे हैं। मुक्त जीवों की यही स्थिति ईसाई धर्म में भी बताई गई है। उनमें अक्रियता की धारणा उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वभाव के कारण सही नहीं है।

यही नहीं, उत्तरवर्ती काल में ईसाइयों में भी ईश्वर के स्वरूप एवं कार्य, संगठन-व्यवस्था, मठवाद, प्रक्षिप्त अंशों की मान्यता, क्रियावाद, धर्मगुरुओं का विवाह आदि के प्रति शंकायें व्यक्त की गईं जिनकी व्याख्याओं में भिन्नता के कारण सोलहवीं सदी और उसके बाद ईसाई पंथ अनेक प्रतिवादी (प्रोटेस्टेंट) सम्प्रदायों में, समय-समय पर, विभाजित होता गया। वर्तमान में इनकी संख्या दर्जनों में चली गई है। इसी काल में ईश्वर के तीन रूपों पिता, पुत्र और रूह की धारणा आई। प्रोटेस्टेंट और क्रिश्चियन साइंस तो ईश्वर को व्यक्ति के बदले एक धारणा और बाइबिल को मात्र धार्मिक विकास का एक अभिलेख मानते हैं। 'डिवाइन लाइफ मिशन' तो ईसा को ४२ उद्धारकों में एक मानता है। यही नहीं, नये युग में तो अनेक ईसाई धारणाओं का महत्व कम होता जा रहा है एवं अनीश्वरवादियों की संख्या में क्रमशः विस्तार होता जा रहा है। नीत्से ने तो बहुत पहले 'ईश्वर मर चुका है' की घोषणा कर दी थी।

२. जैन आगम ग्रंथ जहाँ स्वतंत्र ग्रंथ है, वहीं बाइबिल एक संग्रह ग्रंथ है जिसमें ६६ प्रकरण संग्रहित हुए हैं। विषयों की पुनरावृत्ति तो सभी में है। फिर भी, एक पुस्तक की प्रभाविता अनेक पुस्तकों की प्रभाविता से अधिक सिद्ध हुई है।

यद्यपि जैन मूर्तिपूजा के विषय में मौन है, फिर भी प्रायः पंद्रहवीं सदी तक अधिकांश जैन मूर्तिपूजक थे। वे मूर्तिपूजा के माध्यम से पत्थर की या व्यक्ति की पूजा नहीं करते, अपितु मूर्ति में संस्थापित एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति के गुणों को स्वयं में पल्लवित करने के लिये कामना करते हैं। वे उनके आध्यात्मिक गुणों के अनुकरण का प्रयास करते हैं। जप, प्रार्थना, ध्यान, भजन-संहिता आदि अंतःशक्ति को संवर्धित करते हैं। इनमें ईश्वर का विशेष महत्व नहीं होता। वे आदर्श-पूजक हैं, मूर्तिपूजक नहीं। मूर्तियाँ तो आदर्शों के माध्यम हैं। अतः जैन न नास्तिक हैं, और न ही एकेश्वरवादी हैं। वे जिनवादी हैं और अंतरंग शत्रुओं को जीतने वालों का सम्मानपूर्वक स्मरण करते हैं। वे भावपूजा के साथ द्रव्य-पूजा भी करते हैं। पूजा उनके लिये एक मनोवैज्ञानिक उपक्रम है। स्तर के अनुरूप सगुण-निर्गुण पूजायें होती हैं। निर्गुण पूजा में मूर्ति नहीं होती।

इसके विपर्यास, में बाइबिल मूर्ति को मल (Unclean) मानती है और मूर्तिपूजकों की निंदा करती है। बाइबिल मूर्तिपूजा की धारणा को नहीं मानती है। फिर मनुष्य कैसे ईश्वर की मूर्ति बनाये? सामान्य मूर्ति से तो प्रदूषण होता है। पर सामान्य एवं आर्थोडोक्स (कैथोलिक) गिरिजाघरों में भी क्रॉस या मेरी की मूर्तियों की भजन-संहिता के माध्यम से सर्विस (द्रव्य पूजा) की जाती है। यह प्रत्यक्ष नहीं, तो परोक्ष पूजा तो है ही। यह भी कहा गया है कि मंदिर जैसे पवित्र स्थान पर जूता पहन कर नहीं जाना चाहिए। (कुछ प्रोटेस्टेंट इसे नहीं मानते।)

महावीर का कर्मवाद गतिशील कार्यकारणवाद पर आधारित है। इसका रूप स्थिर यांत्रिक नहीं है। यह 'जो करे, सो भोगे' का सिद्धांत है। इसे रहस्यवाद या पलायनवाद कहना वैज्ञानिक मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। कर्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की धारणा भी जुड़ी हुई है। इससे मनुष्य दूरदर्शी बनकर स्व-पर-हित साधना करता है। यह 'करे कोई, भरे कोई', का समर्थन नहीं करता। इससे तो पापवृद्धि ही संभावित है। इससे मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं विरोधियों के प्रति समभाव के भाव नहीं पनपते हैं। 'जैसा तुम बोओगे, वैसा तुम काटोगे, के रूप में ईसा भी कर्मवाद स्वीकार करते हैं पर उसका विवेचन तो जैनों में भी पाया जाता है।

५. एक विदुषी ने जैनों की अहिंसा की सर्वमान्य धारणा को ही अव्यावहारिक, अवैज्ञानिक एवं असंगत बताया है। यद्यपि ईसा के दस आदेशों में यह भी अन्यतम है, बाइबिल में मंदिरों में पशुबलि का विरोध करते हुए कहा गया है कि ईश्वर कैसे अपनी संतानों की बलि से प्रसन्न हो सकता है?

वस्तुतः अहिंसा के दो अर्थ हैं-

अ. आवश्यक हिंसा का अल्पीकरण। यह जीवन की सुखमयता के लिये अनिवार्य है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि अनावश्यक हिंसा से निवर्तन हो।

ब. इसका सकारात्मक अर्थ प्रेम, दया, सहानुभूति, करुणा आदि का सदाचार है। अतः अपने स्वार्थ के कारण 'जीवो जीवस्य भोजन' के आधार पर 'अहिंसा' के सिद्धांत को नकारना असंगत है। ईश्वर भी प्रेम ही चाहता है, हिंसा नहीं।

६. यद्यपि दोनों धर्म 'त्रिरत्न' मानते हैं, पर उनके उद्देश्यों में समानता होने पर भी, उनके नामों में अंतर है :

जैन	विश्वास/श्रद्धा, ज्ञान, सदाचार (चारित्र)
ईसाई	विश्वास, आशा, प्रेम
नई मान्यता	पिता, पुत्र, रूह

७. महावीर का धर्म सभी प्राणियों- एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक, मनुष्य, पशुओं एवं नारकियों तथा देवों तक के हित की बात करता है, जबकि ईसाई धर्म मुख्यतः मानव- वह भी विशेषतः दीन मानव के हित की ही बात करता है।

८. महावीर ने मनुष्यों के भावों को आकलित करने के लिये छः लेश्याओं (आभामंडल) की धारणा को पूर्ण रूप से विकसित किया है और आम के पेड़ से

पके आमों को तोड़ने की प्रक्रिया से इसे समझाया है। इसके विपर्यास में, ईसा ने केवल तीन (कापोत, पद्म व शुक्ल) का ही नामोल्लेख किया है। इसका पूर्ण विवरण नहीं है।

ईसा ने मुख्यतः गृहस्थों एवं सम्भवतः संतों को समान उपदेश-संहिता प्रदान की। इसीलिये आज भी ईसाई धर्म में साधु-संस्था बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके विपर्यास में, महावीर ने गृहस्थों एवं साधुओं के लिये पृथक्-पृथक् स्थूल एवं सूक्ष्म आचार-संहिता दी। फलतः जैनों में साधु-संस्था आज भी महत्त्वपूर्ण एवं मार्गदर्शक बनी हुई है।

१०. महावीर की साधु संस्था में अहिंसात्मक दृष्टि के कारण वर्षाकालीन चातुर्मास की परम्परा है, जो धर्म-प्राचार एवं संरक्षण का ही एक रूप है। यह परम्परा ईसाई धर्म में नहीं है।

११. भगवान महावीर ने रात्रि भोजन का निषेध किया है, जबकि बाइबिल इस विषय में मौन है। प्रायः ईसाई रात्रि भोजी रहे हैं और हैं।

१२. महावीर के मार्ग में आत्महित एवं परहित को युगपत् रूप से मुक्ति का साधन माना गया है। ईसा के मार्ग में केवल परहित की प्रक्रिया ही प्रमुख बनी है। जैनों में मुक्ति के लिये 'मुक्ति' शब्द प्रचलित है, जबकि बाइबिल में इसे 'स्वर्ग के राज्य' के रूप में भी बताया गया है। जैनों में 'मुक्ति' (पाप या कर्म-निर्जरा) अपरिग्रही या नग्न वेश में मानी गई है। जबकि ईसा के धर्म में सदेह 'स्वर्ग के राज्य' में जाने की चर्चा है, जैसा कि माता मरियम तथा ईसा के विवरण से स्पष्ट है।

महावीर एक भौतिक एवं नश्वर स्वर्ग (देवी-देवता) और एक सिद्धों का अमर स्वर्ग (मोक्ष) मानते हैं। इसके विपर्यास में, ईसा मुक्ति को ही अमर स्वर्ग का राज्य मानते हैं जहाँ ईश्वर है और जिसके दायें-बायें मुक्त जीव विराजते हैं एवं अनंत आनंद का अनुभव करते हैं। ईसा का ईश्वर सक्रिय होता है और विश्व के पाप मिटाने के लिये ईसा के रूप में अवतरित होता है। यह मान्यता हिन्दुओं की गीता के अनुरूप है।

जैनों के मोक्ष में ईश्वर नहीं होता, सभी मुक्त जीव समान, स्वतंत्र एवं अनंत चतुष्टयी होते हैं। वे परमानन्द में रहते हैं। मुक्त जीव निःस्वभावी नहीं होते। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं।

१३. महावीर के अनुसार, धर्म सार्वत्रिक है। तीर्थंकर या धर्मोन्नायक सर्वत्र उत्पन्न हो सकते हैं। सभी को अवतार माना जा सकता है। केवल महात्मा ईसा को ही अवतार मानने की धारणा बुद्धिवाद की प्रेरक नहीं लगती। विश्व के अधिकांश धर्म

(हिन्दू और जैनों को छोड़कर) अपने धर्म-संस्थापक को ईश्वर-दूत, ईश्वर-पुत्र, ईश्वरीय रहस्य-उद्घाटक या परमेश्वर के समान ही मानते हैं। नये युग में यह धारणा बदल रही है। जैनों के अनुसार, ईश्वरत्व ज्ञान, साधना और तपस्या से कर्ममल या दुःख दूर कर ही पाया जा सकता है।

१४. महावीर के धर्म में दार्शनिक तत्त्वों या बुद्धिवाद को भी महत्व दिया गया है। जबकि ईसा के उपदेशों में यह नहीं पाया जाता। वहाँ तो जन-कल्याण (सेवा एवं अनुग्रह) का ही महत्व है। ईश्वर के समान धारणाओं को स्वतःसिद्ध मान लिया गया है।

१५. महावीर के धर्म में पवित्र मृत्यु (सल्लेखना) का विधान है। यह ईसा के धर्म में नहीं है। स्वेच्छा-मृत्यु को भुखमरी या आत्महत्या नहीं कहा जा सकता है। ये दोनों अभाव या मनोवैज्ञानिक क्षोभ के प्रतीक हैं। महावीर के शिष्यों ने धर्म-प्रचार की तुलना में पवित्र मृत्यु की प्रक्रिया श्रेष्ठ समझी।

१६. जैन धर्म जन्मना जातिवाद को नहीं मानता। अतः उसके अनुयायियों में जातिगत भेदभाव नहीं है। ईसाई धर्म तो स्पष्टतः दीन एवं अदीन की जाति स्वीकृत करता है। अब तो उनके दीनों में भी एक नई जाति-दलित जाति का उदय हो रहा है जिसके लिये राजनीतिक संरक्षण भी मांगा जा रहा है।

१७. महावीर का धर्म मुख्यतः निवृत्तिवादी माना जाता है, पर यह निवृत्ति नैतिक एवं शुभ प्रवृत्तियों का ही एक रूप है। यह शुभ प्रवृत्तियों को जन्म देती है। श्रमण का अर्थ ही श्रम करना या प्रवृत्ति करना है। इसके विपर्यास में, ईसा का धर्म प्रवृत्तिवादी ही माना जाता है।

महावीर के ३० वर्ष तक दिये गये उपदेश उनकी मृत्यु के बाद भी, सीमित क्षेत्र में ही प्रचारित रह सके। इसके विपर्यास में, ईसा के तीन-साढ़े तीन वर्ष के उपदेश और कार्य उनकी मृत्यु के बाद तो और भी विश्व के अनेक देशों में उनके धर्म प्रचारकों द्वारा जनसेवा के माध्यम से प्रचारित एवं प्रवाहित हुए। फिर भी, यह एक अचरजकारी तथ्य है कि दोनों महापुरुषों के उपदेश काल में इनके अनुयायियों की संख्या में जो अनुपात १०:१ का था वर्तमान में १:३०० के अनुपात में पाया जाता है। जैनों के लिये यह विषम अनुपात विभिन्न दृष्टिकोणों से विचारणीय है :

१. महावीर का धर्म, प्रारम्भ में, राजकुलों एवं उच्च वर्ग में अधिक प्रचारित हुआ, जबकि ईसा के उपदेश एवं कार्य दीन-दुःखियों में अधिक प्रचारित हुए जो समग्र जनता का तीन-चौथाई से अधिक भाग है। फलतः राजमहल और झोपड़ी का जो अंतर है, वह आज भी बना हुआ है।

२. दोनों धर्मों को मध्यकाल के पूर्व अनेक क्षेत्रों में राज्याश्रय मिला। बाद में केवल ईसाई या अन्य धर्म ही प्रत्यक्ष या परोक्ष राज्याश्रय पाते रहे।

३. महावीर का धर्म मुख्यतः आत्म-केन्द्रित धर्म माना जाता है। अतः इसके अनुयायियों ने इसके प्रचार की आवश्यकता ही न समझी और न यह व्यापक प्रचार-प्रसार ही पा सका। साथ ही, यह सामाजिक सेवा एवं सुधार के क्षेत्र में भी अग्रणी नहीं बन सका।

इसके विपर्यास में, ईसाई धर्म मुख्यतः पर-सेवा केन्द्रित रहा। फलतः ईसा के शिष्यों एवं प्रचारकों ने उसका खूब प्रचार किया। ईसा के जीवनकाल में ही उनके १२ मुख्य शिष्य, ७० धर्म प्रचारक थे। इससे धर्मान्तरण, धर्म-दीक्षण भी हुआ जो अब तक चालू है। आज भी विश्व के अनेक क्षेत्रों में लगभग २०००० से अधिक प्रचारक यह काम कर रहे हैं और प्रायः ४००० व्यक्ति प्रतिदिन ईसाई बन रहे हैं। यह स्पष्ट है कि महावीर, ईसा की तुलना में धर्म की विक्रय कला में अधिक निपुणता नहीं पा सके। उनका धर्म अमूर्त एवं अदृश्य सुख के आशावाद का संदेश देता था, जबकि ईसा धर्म प्रत्यक्ष सेवा के माध्यम से प्रत्यक्ष सुखी होने का मार्ग सुझाता था।

४. महावीर का धर्म प्रबुद्ध जन तथा गरीब-अमीर सभी के लिये है, लेकिन प्रबुद्ध वर्ग में भी इसके अनुयायी (२-५ प्रतिशत) हैं। इसके विपर्यास में, ईसाई धर्म, विशेषतः दीनों के लिये है, उनमें इसके प्रति मनोवैज्ञानिक आकर्षण होता है। समग्र समाज में इनका प्रतिशत ९० तक जाता है। अतः इसके अनुयायियों की संख्या सर्वाधिक है।

५. भगवान् महावीर ने अनुयायियों को साधुओं के लिये औषध, शास्त्र, अभय और आहार के रूप में चार प्रकार के दान का उपदेश तो दिया, पर उसे अलौकिक कोटि में डाल दिया। गृहस्थों के लिये भी चार दत्तियों का 'महापुराण' में उल्लेख है, जिन्हें लौकिक दान कहा जाता है। 'स्थानांग' में भी १० प्रकार के दान और नौ प्रकार के पुण्यों का उल्लेख है। पर इनमें धर्म-प्रचार के लिये न तो कोई नियम बनाया गया है और न ही एतदर्थ प्रेरणा दी गई है। इस आत्म-केन्द्रण के कारण जैन संस्कृति का संप्रसारण या संवर्धन नहीं हो सका।

इसके विपर्यास में, ईसाई धर्म में अनुयायियों की आय का न्यूनतम १०% धर्म प्रचार कार्य में दान देने का नियम प्रारम्भ से चल रहा है। मुस्लिम धर्म में भी यह प्रथा है। इसी दान से वे विश्व के अनेक क्षेत्रों में उपरोक्त चारों प्रकार की सेवायें उपलब्ध कराकर अपना धर्म प्रसारित करते रहे और कर रहे हैं।

६. जैनों का अनेकांतवाद इसकी उत्तमता की धारणा को भ्रांत बनाता है। यह विरोधी-समागम का एक रूप है। इसका प्रजातांत्रिक अनेकेश्वरवाद भी एकेश्वरवाद की तुलना में सामान्य जन के लिये आकर्षक नहीं लगता। तथापि ये दोनों सिद्धांत जैनधर्म की आत्मा हैं एवं समभाव तथा समन्वय के प्रतीक हैं। पार्लियामेंट आव वर्ल्ड रेलीजन्स, असेंबली आव वर्ल्ड रेलीजन्स, अन्तर्विश्वासीय तथा नवयुग के समान अनेक संगठन इसके वर्तमान रूप हैं। महात्मा ईसा भी इन दोनों सिद्धांतों के परोक्षतः समर्थक थे, पर उन्होंने स्पष्ट रूप से इन पर मौन रखा। फलतः वे अधिक आकर्षण के केन्द्र बने।

७. भगवान महावीर ने अपने युग में चतुर्विध संघ की स्थापना की जिससे धर्म संस्था में परस्परवलम्बन स्थायी बना रहे। पर उनके युग में, संभवतः मंदिर एवं पूजा-स्थल नहीं थे। फलतः जब उत्तरवर्ती काल में इनका विकास हुआ, तो धर्मादा तो बना, पर उसका उपयोग धर्म-प्रचार में न कर नये-नये मंदिरों के निर्माण तथा अन्य प्रभावक धार्मिक आयोजनों में होने लगा। मंदिरों में गृहस्थ जन ही दैनिक कृत्य करते थे, माली ही मंदिर का सर्वेसर्वा था। पुजारी या पंडित की भी वहां कोई व्यवस्था नहीं थी। यह प्रथा आज कहीं-कहीं चलने लगी है, पर धर्म-प्रचार पर इसका जोर नगण्य है। इसके विपर्यास में, ईसाई धर्म में गिरजाघरों में कार्यरत 'फादर' और अन्य कर्मचारी धार्मिकता के संरक्षण के साथ, प्रचार कार्य में भी लगे रहते हैं।

८. महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने धर्म-प्रचार की दिशा में न सोचा ही, न कोई संगठन बनाया। वे तो अन्य धर्मियों को मिथ्यात्वी कहकर उनके ग्रंथों के अध्ययन तक को निरुत्साहित करते रहे। 'जनधर्म' कहकर भी उन्होंने नव-जैनों का स्वागत नहीं किया। वे बौद्धिक चर्चाओं, शास्त्रार्थ एवं ग्रंथलेखन में ही लगे रहे। इनके साधुओं की सीमित पदयात्रायें ही इसे अब तक सुरक्षित रख सकी है। वे ही इसके सबसे बड़े प्रचारक हैं और रहे हैं।

इसके विपर्यास में, ईसा ने स्वयं और उसके अनुयायियों ने प्रचारक मंडलियाँ गठित कीं और १० प्रतिशत के आधार पर प्राप्त अनुदान से विभिन्न क्षेत्रों और देशों में अन-ईसाई लोगों में नियमित प्रचार किया और कर रहे हैं। आज अनेक जैन विद्वान् एवं साधु भी इस दिशा में काम कर रहे हैं, पर इनका काम मुख्यतः संरक्षण का है, संवर्धन का नहीं, इसका फल भी उन्हें मिला है और जैनधर्म को बुद्धिवादियों का समर्थन मिलने लगा है। इस प्रक्रिया में उज्ज्वल भविष्य की आशा की जा सकती है।

९. जैनों ने धर्म-प्रचार का कार्य तो नहीं ही किया, उन्होंने अपने साहित्य को भी प्रसारित नहीं होने दिया। वे इसे पवित्र मानकर जैनैतर मतवादियों में कैसे प्रसारित

करते? वे तो मिथ्यात्वी थे और उनका अविनय भी कर सकते थे। इस साहित्य को लोकभाषा में प्रस्तुत करना भी क्षम्य नहीं था। यही कारण है कि जैनधर्म और उसके सिद्धांतों के विषय में पर्याप्त भ्रांतियां बनी और आज भी बनी हुई हैं।

इसके विपर्यास में, ईसाई संगठनों ने बाइबिल और उसके अनेक अंशों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया और उसे निःशुल्क वितरित किया। अब तक बाइबिल का ३३० भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और ६०० भाषाओं में अनुवाद की योजना चल रही है। यदि भाषाओं के साथ जनभाषाओं को लिया जाय, तो प्रायः २८०० प्रकार के इसके अनुवाद हो चुके हैं। आजकल प्रचार का एक रूप यह भी है कि होटलों के कमरों में बाइबिल रखी जाने लगी है। साहित्य का यह विपुल उत्पादन एवं संप्रसारण भी ईसाई धर्म के संवर्धन में सहायक हुआ है।

१०. ईसाइयों के समान जैनों में भी अनेक पंथ हैं जो मौलिक जैन सिद्धांतों की व्याख्या किंचित् परिवर्धित रूप में करते हैं। ये पंथ मत की जीवंतता को निरूपित करते हैं। ये स्वतंत्र रूप से ही अपना कार्य करते हैं। सामान्य प्रचार के लिये इन पंथों का कोई सम्मिलित संगठन नहीं है, जो जैन धर्म की वर्तमान और भविष्य की सम्भावनाओं पर ध्यान दे सके। वर्तमान में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विशेषणी जैन संस्थायें बनी हैं जिन्होंने इस दिशा में कुछ काम करना प्रारंभ किया है।

ईसाई धर्म के स्थिर होने पर प्रारम्भ में यरूशलम और बाद में रोम इसका प्रमुख केन्द्र बना जिसने न केवल ईसाइयों को संगठित रखा, अपितु उनके प्रचार-प्रसार को भी वरीयता दी। अब तो ईसाइयों के अनेक संगठन इसके विश्वव्यापी प्रसार में लगे हुये हैं। ईसाई पंथ की जीवंतता १५वीं-१७वीं सदी में लूथर और उसके उत्तरवर्ती काल में व्यक्त हुई। इस विषय में पूर्व में बताया जा चुका है।

११. ईसाई धर्म के प्रचार का एक मुख्य कारण अन्य धर्मों की निंदा, अवर्णवाद और प्रलोभन भी रहा है। अपने अनेकात सिद्धांत के कारण जैन यह विधि नहीं अपना सकते थे।

१२. ईसाइयों का पवित्र ग्रंथ कहीं से भी किसी भी पंथ ने प्रकाशित किया हो, उसमें सार्थक एकरूपता पाई जाती है। जैनों के आगम ग्रंथों के विभिन्न प्रकाशनों में यह एकरूपता नहीं पाई जाती। यह महत्त्वपूर्ण एवं ध्यान देने योग्य विषय है। शोधकर्ताओं को इसमें किंचित् असुविधा होती है।

१३. महावीर का धर्म व्यक्ति को स्वावलम्बी तथा स्वयं का भाग्यविधाता बनने की प्रेरणा देता है। इसके विपर्यास में, ईसा का धर्म परावलम्बन तथा ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने को ही वरीयता देता है।

नये युग में महावीर और ईसा का मूल्यांकन :

विश्व के विभिन्न धर्म विभिन्न क्षेत्रों में एवं विभिन्न युगों में विकसित हुये हैं। उन युगों की तुलना में, आज के युग में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं और अनेक नई समस्यायें सामने आई हैं। प्राचीन युग में धर्म के कारण अनेक यातनायें दी गईं और अनेक युद्ध हुए। ये प्रक्रियायें तो अभी भी चालू हैं, पर इनमें अब राजनीति और अर्थशास्त्र भी प्रमुख बन रहे हैं और अनेक में धर्म भी अंतरंगतः समाहित है। साथ ही, अब जातिवाद, विनाशक और परमाणविक अस्त्र, जनसंख्या वृद्धि, औद्योगिक विस्तार और प्रदूषण, प्राकृतिक स्रोतों का अति-दोहन, नैतिक मूल्यों का हास, संकीर्ण मानसिकता, अति-व्यक्ति-स्वातंत्र्य धार्मिक युद्ध आदि अनेक समस्यायें समाहित हुई हैं। ईसाई धर्म के अनुसार, स्थितियाँ और विकराल हो सकती हैं। ईसाई जन वर्तमान युग को पापशक्ति के रूप में 'शैतान का राज्य' मानते हैं। इससे हमारे भावी विनाश की संभावना है। फलतः वे करुणा और पाप-नाशक पुण्य में विश्वास के द्वारा भावी मुक्ति के आशावादी हैं।

जैन धर्म के अनुसार भी ये स्थितियाँ काल-प्रभाव को व्यक्त करती हैं, क्योंकि वर्तमान में अवनति-काल चल रहा है। इसमें धार्मिक विश्वास और सदाचार की हानि होगी। वैज्ञानिक युग की प्रगति को यह भौतिक प्रगति मानता है जो आध्यात्मिक विकास के विलोम में चलती है। महावीर मुख्यतः सभी आत्माओं की समान क्षमता के आधार पर प्राणियों को बाहरी वातावरण से अपरिग्रह, अनेकांत और अहिंसा के अभ्यास के माध्यम से प्रजातंत्रीय सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास का उपदेश देते हैं जो करुणा एवं सेवा के उपदेश से अधिक प्रभावी है।

महावीर और ईसा के युग में शिक्षा एवं विचार-प्रवणता अत्यल्प (लगभग ३ प्रतिशत) थी। वर्तमान युग में यह ६६-१०० प्रतिशत तक जा पहुंची है। यह पाया गया है कि परम्परावाद और शिक्षा के प्रतिशत के बीच विलोम अनुपात होता है। फलतः, तुलनात्मकतः विभिन्न धर्मों का अध्ययन अब एक रोचक विषय बन गया है। इससे सभी धर्मों की समानताओं और असमानताओं का भान होने लगा है। अब प्रत्येक धर्म का अध्ययन सापेक्ष दृष्टि से होता है। नामित धर्मों की अपूर्वता या अनुपमता समाप्त हो रही है। लोग अनीश्वरवाद की ओर मुड़ रहे हैं तथा एक-दूसरे के विचारों और मान्यताओं के प्रति सहिष्णु बन रहे हैं। यद्यपि समन्वयवाद का प्रचलन तो चौथी-पांचवीं सदी में ही हो गया था, पर दमन के कारण इसके प्रकट होने में एक हजार वर्ष लग गये। अनेक प्राचीन मान्यतायें मिथ्यात्व की कोटि में आने लगी हैं। जगत् के उद्धारकों की संख्या ४२ तक मानी जाने लगी है। यही नहीं, भूतकालीन

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अब 'धर्म' शब्द किंचित् उपेक्षा का शिकार भी हो रहा है। इसीलिये महावीर अनेकांतवाद या सापेक्षवाद के माध्यम से इसी सहिष्णुता के अभ्यास का निरन्तर संदेश देते हैं। इसी आधार पर अनेक नये स्वतंत्रचेता अंतर्विश्वासीय विचारधारा का प्रचार कर मानव-एकता को प्रबलित कर रहे हैं। यही नहीं, वे यह भी प्रयत्न कर रहे हैं कि मानव सृष्टि की अपूर्वता मानकर उसकी एकता के लिये प्रयत्न किया जाये एवं धर्मों के माध्यम से विभाजन की प्रक्रिया समाप्त की जाये।

इस दृष्टि से महावीर उनके मार्गदर्शक हैं। उन्होंने जन्मना जातिवाद के सिद्धांत को 'कर्मणा' जातिवाद में परिणत कर परम्परागत जातिवादी उत्कृष्टता की मान्यतायें समाप्त कीं। इसके विपर्यास में, महात्मा ईसा ने अपने जीवनकाल में चुने हुए लोगों को ही प्राधान्य दिया और अन्यो के प्रति उपेक्षा दर्शायी। इसी प्रकार, महावीर ने धार्मिक जीवन को दैवी प्रसाद से मुक्त कर स्वावलम्बन व समत्व की ओर मोड़ा जिससे बुद्धिवादी अधिक प्रभावित हुए।

महावीर की व्यापक अहिंसा के उपदेश ने जहां शाकाहार एवं सात्त्विक वृत्ति को प्रोत्साहित किया, वहीं इसकी युद्ध रोकने की क्षमता भी बीसवीं सदी में प्रकट हुई। इससे भारत के समान अनेक देश धार्मिक एवं राजनीतिक परतंत्रता से मुक्त हुए और वे अब साम, दाम, भेद व दण्ड की चतुष्टयी से युद्ध-रहित स्थिति का निर्माण कर रहे हैं। इसी को व्यापक रूप में अनुप्रयोजित करने के लिये आज न केवल 'यू०एन०ओ०' के समान अनेक संस्थायें निर्मित हुई हैं, अपितु सैन्य-विहीन राज्यों की धारणा भी सामने आई है। वर्तमान में, इसी सिद्धांत के आधार पर 'युद्ध न हो' के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

महात्मा ईसा ने 'किसी को मत मारो' का उपदेश देकर भी अपने विरोधियों को अग्नि में जलाने या मारने के उपदेश दिये हैं। संसार के इतिहास में उपनिवेशवाद की यातनाओं की कथायें कौन नहीं जानता? अपवादों को छोड़कर कौन उनके अनुयायी मांसाहार नहीं करते? विश्व के अनेक क्षेत्रों में फैल रहा युद्धोन्माद ईसा के अनुयायियों की ही देन है। ऐसे में ईसा के उपदेश संसार में युद्ध कैसे रोक सकेंगे और शांति कैसे स्थापित कर सकेंगे? परमाणु-युद्ध की लीला और संभावना भी अहिंसा के विश्वव्यापी माध्यम अनेकांत से ही अल्पीकृत की जा सकती है। पर्यावरण-प्रदूषण जनसंख्या वृद्धि, प्राकृतिक स्रोतों का अति-दोहन, औद्योगिक विस्तार एवं उपभोक्तावाद का सम्मिलित रूप है। आजकल भौतिक पर्यावरण (पृथ्वी, जल, वायु, ध्वनि आदि) तो प्रदूषित हुआ ही है, मानसिक या आंतरिक पर्यावरण (अभाव, असंतोष, आवेग, उद्वेग आदि) भी प्रदूषित हुए हैं। महात्मा ईसा के उपदेशों में इसे

रोकने के लिये कोई विशेष संकेत नहीं मिलता, (संभवतः उनके समय में यह समस्या ही नहीं रही होगी), पर महावीर किंचित् दूरदर्शी थे। उन्होंने सामान्य जन के लिये ऐसे व्रत व नियम प्रस्तावित किये जिनके पालन से पर्यावरण संतुलन प्रत्येक स्थिति में बना रहेगा। 'उन्होंने सभी जीवों का आदर करो' की धारणा प्रस्तुत कर निम्न व्रतों के परिपालन का उपदेश दिया, जो आज भी युगानुकूल हैं :

- | | |
|---|---|
| १. जनसंख्या वृद्धि रोकने के लिये | ब्रह्मचर्य व्रत |
| २. चलने-फिरने में सावधानी | अहिंसा व्रत, समितिवाद |
| ३. उपेक्षणीय या निरुद्देश्य कार्य न करने के लिये
(पेड़ काटना, जल-बिजली का अधिक उपयोग,
अकारण यात्रा, प्रकृति का अतिदोहन आदि) | वन संरक्षण, अनर्थदंड व्रत |
| ४. अनेक हिंसक व्यवसाय न करने के लिये | अहिंसा व्रत |
| ५. कलह या युद्धशमन के लिये | अनेकांतवाद |
| ६. शाकाहारी जीवन पद्धति एवं आवश्यकताओं
का परिमाण करने के लिये | भोगोपभोग-परिमाण व्रत,
अहिंसा व्रत
परिग्रह परिमाण व्रत |
| ७. उपभोक्तावाद पर नियंत्रण के लिये | परिग्रह परिमाण व्रत |
| ८. सामाजिक विषमता दूर करने हेतु | अतिथि संविभाग व्रत |
| ९. कषायों पर नियंत्रण के लिये | मोहकर्म का क्षयोपशम |
| १०. क्षयाभाव की प्रवृत्ति के लिये | शुभ कर्म करना |

वर्तमान में जो सरकारी और गैर-सरकारी उपाय इस दिशा में किये जा रहे हैं, वे जैन शैली के विस्तारित रूप हैं।

महात्मा ईसा ने भी अपरिग्रह तथा संविभाग की चर्चायें की हैं, पर अन्य बातें उनके आदेशों में नगण्य ही हैं। यही कारण है कि पश्चिम महा-परिग्रह होता जा रहा है।

आज की सर्वाधिक जटिल समस्या नैतिक मूल्यों के हास की है। इस विषय में सभी चिंतित हैं। इससे यह भी अनुमान लगता है कि विभिन्न युग के महापुरुषों के उपदेशों का या धार्मिकता का प्रभाव निरन्तर कम हो रहा है। विभिन्न धर्मों के

अतिवादी संकेत आज उसे लुभावने नहीं रह गये हैं और न ही आज लोग अनेक कठोर नियम पालना चाहते हैं। वे मध्यममार्गी बने रहना चाहते हैं। सामान्य जन के लिये पूर्णतः कषाय-त्याग, परिग्रह-त्याग, पूर्ण करुणा या सहानुभूति सम्भव नहीं है। त्याग और करणीय में कुछ समन्वय की आवश्यकता है। महावीर का अनेकांत इस दृष्टि से पर्याप्त दिशाप्रेरक है। उसके अनुसार, किसी भी प्रक्रिया में शुभता हो, वह विवेकपूर्वक करना चाहिये। महावीर ने 'कीजे शक्ति समान, शक्ति बिना सरधा धरे' का लचीला उपदेश देकर मानव जाति को अधिकाधिक नैतिक बनने का संदेश दिया है। यही कारण है कि अधिकांश मात्रा में आज भी जैन अपनी नैतिकता के लिये प्रसिद्ध हैं।

महावीर के उपदेशों में व्यक्तित्व विकास के लिये श्रम, समता एवं स्वावलम्बन की धारणाएँ समाहित हैं जो व्यक्ति को स्वतंत्रचेता, कर्ता एवं भोक्ता बनाती हैं। वर्तमान युग भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य का युग है। शिक्षा-प्रसार से व्यक्ति अपने हित-अहित का विचार कर सकता है। महावीर ने बहुत पहले ही परीक्षा-प्रणाली बनाकर सापेक्ष दृष्टि से सदाचार पालन के उपदेश दिये थे, जो आज अनुप्रयुक्त हो रहे हैं। इससे उसके अति-व्यक्तिवाद पर नियंत्रण होता है। उन्होंने व्यक्ति को स्वयं का भाग्यविधाता कहकर उसे ईश्वर के अनुग्रह या क्रोध की विडम्बना से मुक्त किया। तथापि, आधुनिक तनावशील वातावरण में व्यक्ति किंचित् क्षुब्ध है। अतः वह आध्यात्मिकता की ओर मुड़ने को बाध्य हो रहा है जिससे उसमें अंतःशक्ति एवं समुचित सामर्थ्य विकसित हो।

महात्मा ईसा ने विश्व की अनेक भावी (और अब वर्तमान) समस्याओं के समाधान के लिये महावीर के समान बुद्धिसंगत उपदेश तो नहीं दिये, पर करुणा एवं सहानुभूति के माध्यम से उन्होंने ऐसी विषम स्थितियों पर अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की है एवं इन सदाचारपरक इच्छाइयों से वर्तमान की अनेक समस्याओं पर विजय पाने का संकेत दिया है, पर उसके लिये व्यवस्थित रूप से उपदेश नहीं दिया। उन्होंने मात्र ईश्वर में विश्वास के आधार पर स्वर्णिम भविष्य के आशावाद की झांकी दिखाई एवं मानव जाति को प्रलय से बचाने का उपक्रम सिखाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने बुद्धिसंगत विश्वास तथा सदाचार (व्रत आदि) के आधार पर वर्तमान समस्याओं के समाधान हेतु जो व्यापक और प्रेरक आदेश दिये हैं, उनकी तुलना में महात्मा ईसा के संकेत अति संक्षिप्त हैं और गूढ़ भाषा में हैं। इनका विस्तार आवश्यक है।

नवयुग के अनेक विचारशील विद्वानों का मत है कि प्राचीन धर्म अपने युगों की समस्याओं के अनुरूप अनुकूलित थे, पर वे आज की जटिल समस्याओं का अनुकूल समाधान नहीं कर सकते। एतदर्थ एक नये समन्वयवादी सत्य धर्म या मानव धर्म संस्था की आवश्यकता है।

सन्दर्भ:

१. नोलन, एलबर्ट : जीसस विफोर क्रिश्चियनिटी, डार्टन, लोगमैन एण्ड टॉड लि० लंदन, १९९४.
२. दी न्यू टेस्टामेंट : गिडियन्स इंटरनेशनल विस्कॉसिन, यू०एस०ए०, १९८२.
३. होली बाइबिल : कोलिनस, बेंगलोर, १९७३.
४. पाल, अलेक्जेंडर (सं) : दी वर्ल्ड रिलीजियन्स, लायन्स, लंदन १९९४.
५. स्टीवेंसन, सिनक्लेयर, हार्ट ऑव जैनीज्म, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९९५.
६. जैन, सी०आर० : जैनीज्म, क्रिश्चियनिटी एण्ड साइंस, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद १९३०.
७. शुक्ला, परशुराम (अनु) : संत बेनेडिक्ट का नियम, इंडो - श्रीलंकन पब्लिकेशन्स, बेंगलोर, १९९६.
८. आचार्य, दया प्रकाश : वैदिक मोक्षयात्रा का लक्ष्य, मसीही साहित्य संस्था, दिल्ली, १९९३.
९. जैन, एन०एल० : जैनीज्म इन नटशैल, निज ज्ञानसागर ट्रस्ट, सतना १९९३.
१०. स्वामी, सत्यभक्त : ईसाई - बहाई समीक्षा, सत्याश्रम, वर्धा, १९५९.
११. देसाई, ए० : दी ओरिजिनल इंडियन्स, मिडिया हाउस, दिल्ली, २००१.
१२. ग्राहम, एलेनोर : दी स्टोरी आव जस, पेग्विन बुक्स, लंदन, १९५४.
१३. पीटर, पोटर : ऑल एबाउट सिन, यूनिवर्सल बुक स्टॉल, दिल्ली, १९८९.
१४. खत्री, ठाकुरदास : विश्व सिनेमा और ईसामसीह : भास्कर, २५ दिसम्बर, २००४.
१५. सिंह, जी०आर० और डेविड, सी०डब्ल्यू० : विश्व के प्रमुख धर्म, हिन्दी थियोलोजिकल लिटरेचर सोसायटी, लखनऊ, २००२, पृ०- १८०-२८०.

१६. सी०डब्लू० डेविड (अनु०) : क्रिस्तीय कलासिया का इतिहास, वही, १९७५.
१७. साइजमोर, जेनवा : मसीही धर्म सिद्धांत, एम०आई०सी०एस० दमोह, १९९३.
१८. शर्मा, अरविंद : जैन पर्सपेक्टिव ऑन दी फिलोसोफी आव रिलीजियन, एम०एल०बी०डी०, नई दिल्ली, २००१, पे० ३१.
१९. श्रीधर, प्रेमचन्द्र : दलित ईसाई, १९९६.
२०. सिंह जी०आर० : ख्रिस्तीय धर्म : एक परिचय, हिन्दी थियोलोजिकल लिटरेचर सोसायटी, बरेली, १९७७.
२१. कल्पसूत्र, अमर जैन आगम शोध संस्थान, सिवाना, १९६८.
२२. शास्त्री, नेमिचंद : महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, छाणी ग्रंथमाला, बुढ़ाना, १९९२.
२३. स्वामी, सुधर्मा : व्याख्याप्रज्ञप्ति - ३, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९४.



आगमों में अनगार के प्रकार : परिव्राजक, तापस और आजीवक के विशेष सन्दर्भ में

डॉ० विजय कुमार*

‘अगारं - घरं जस्स नत्थि सो अणगारो’^१ अर्थात् जिसके आगार नहीं है, घर नहीं है, वह अनगार है, मुनि है। श्रमण, संयत, मुनि, ऋषि, साधु, वीतराग^२ आदि अनगार के समानार्थक हैं। अनगार के ठीक विपरीत जिसके घर है वह आगारी है। किन्तु प्रश्न होता है कि क्या जो घर से निवृत्त है वही अनगारी और जिसके घर है वह आगारी है। यदि अनगारी और आगारी की यही परिसीमा है, तब तो जो साधक देव मंदिर में रहते हैं वे भी आगारी कहलायेंगे और जो विषयतृष्णा से निवृत्त नहीं लेकिन किसी कारणवश वन में रहते हैं वे अनगारी की सीमा में आ जायेंगे। जैन दृष्टि अनगार और आगार की भेद-रेखा इस आधार पर नहीं करती। यहाँ यह भेद-रेखा भावागार विवक्षित है। भावागार से अभिप्राय है - चारित्रमोहनीय के उदय से जो परिणाम घर से निवृत्त नहीं है। यह भावागार जिसमें है वह वन में निवास करते हुए भी आगारी है और इस प्रकार के परिणाम जिसमें नहीं हैं वह घर में रहता हुआ भी अनगारी है।

आगमों में अनगार के पर्याय के रूप में परिव्राजक, तापस और आजीवक के उल्लेख मिलते हैं। ये उल्लेख ‘आचारांग’^३, ‘आचारचूला’^४, ‘व्याख्याप्रज्ञप्ति’^५, ‘ज्ञाताधर्मकथांग’^६ और ‘औपपातिक’ में उपलब्ध होते हैं। ‘व्याख्याप्रज्ञप्ति’ में परिव्राजक के १४ प्रकार, ‘ज्ञाताधर्मकथांग’ में १४ प्रकार और ‘औपपातिक’ में ९ तथा तापस के २७ प्रकार मिलते हैं। इसी प्रकार ‘औपपातिक’ में आजीवक के ७ प्रकार मिलते हैं। ‘औपपातिक’ का एक उद्धरण विशेष द्रष्टव्य है जिसमें जाति के आधार पर भी परिव्राजकों का विभाजन किया गया है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। कहा गया है-

तत्थ खलु इमे अट्ठ माहण परिव्वायगा भवन्ति। तंजहा-

कण्णे य करकंडे य अंबडे य परासरे।

कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए।।

* प्राध्यापक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी, वाराणसी-२१००५

तत्थ खलु इमे अट्ट खत्तियपरिव्वाया भवन्ति, तंजहा-

सीलई ससिहारे (य), नग्गई भग्गई ति य।

विदेहे रायाराया, राया रामे बलेति ये।।^९

ब्राह्मण परिव्राजक के अन्तर्गत कर्ण, करकण्ड, अम्बड, पाराशर, कृष्ण, द्वैपायन, देवगुप्त तथा नारद के नाम उल्लेखित हैं तथा क्षत्रिय परिव्राजक के अन्तर्गत शीलशी, शशिधर, नग्नक, भग्नक, विदेह, राजराज, राजराम तथा बल के नाम गिनाये गये हैं।

‘व्याख्याप्रज्ञप्ति’^८ में १४ प्रकार के आराधक-विराधक अनगर परिव्राजकों के अन्तर्गत जो नाम उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं- असंयत भव्यद्रव्य देव, अविराधित संयमी, विराधित संयमी, अविराधित संयमासंयमी, असंज्ञी जीव, तापस, कान्दर्पिक, चरक परिव्राजक, किल्विषिक, तिर्यञ्च, आजीवक, आभियोगिक, दर्शनभ्रष्ट लिंगी आदि। ‘ज्ञाताधर्मकथांग’^९ में उपलब्ध परिव्राजकों के नाम हैं- गौतम, गोब्रतिक, गृहिधर्म, धर्मचिन्तक, अविरुद्ध, विरुद्ध, वृद्ध, श्रावक, रक्तपट, चरक, चीरिक, चर्मखंडिक, भिच्छंड, पण्डुरंग आदि। इसी प्रकार ‘औपपातिक’^{१०} में आठ प्रकार के परिव्राजकों के नाम उपलब्ध होते हैं- सांख्य, योगी, कापिल, भार्गव, हंस, परमहंस, बहुदक, कुटीचर आदि। ‘औपपातिक’ में उपलब्ध तापसों के नाम हैं- होतृक, पोतृक, कौतृक, उन्मज्जक, सम्मज्जक, निमज्जक, संप्रक्षालक, दक्षिणकूलक, उत्तरकूलक, कूलध्यामक, मृगलुब्धक, हस्तितापस, उद्धण्डक, दिशाप्रेक्षी, बिलवासी, वेलवासी, जलवासी, वृक्षमूलक, अम्बुभक्षी, शैलाभभक्षी, मूलाहारी, कन्दाहारी, त्वचाहारी, पत्राहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी आदि। इनके अतिरिक्त आत्मोत्कर्षी, परपरिवादी, भूतिकर्मिक, कौतुककारक आदि परिव्राजकों के नाम उपलब्ध होते हैं। सात आजीवकों के नाम हैं- दुघरंतिया, तिघरंतिया, सतघरंतिया, उप्पलवेटिया, घरसमुदाणिय, विज्जुअंतरिया और उट्टियसमण।

आगमों में वर्णित परिव्राजकों, तापसों और आजीवकों के उपर्युक्त नामों व स्वरूपों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आगमों में जो तत्सम्बन्धी उल्लेख हैं वे न केवल जैन दृष्टिकोण से विवेचित हैं बल्कि तत्कालीन समाज में विभिन्न धार्मिक आम्नाय में व्याप्त परिव्राजकों, तापसों व आजीवकों के सन्दर्भ में हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि परिव्राजकों, तापसों व आजीवकों का जो विभाजन किया गया है उनका मुख्य आधार आचार, आहार, वस्त्रधारण, भ्रमण और निवास-स्थान रहा है। प्रस्तुत-पत्र में इन्हीं बिन्दुओं को आधार बनाकर परिव्राजकों, तापसों और आजीवकों के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास है।

परिव्राजक

‘परिसमन्तात् पापवर्जनेन व्रजति-गच्छति, स परिव्राजकः।’ अर्थात् जो पूर्णरूप से पाप का वर्जन करता है, गमन करता है, वह परिव्राजक है। सामान्य रूप से परिव्राजक का शाब्दिक अर्थ होता है- सबकुछ त्यागकर परिश्रमण करने वाला। परिव्राजक संसार से विरक्त तथा सामाजिक नियमों से अलग रहते हुए अपना ध्यान शास्त्र-चिन्तन, शिक्षण आदि में लगाते थे। वृक्षों के नीचे सोते थे और भिक्षा में प्राप्त भोजन करते थे। ‘परिव्राजक का सर्वप्रथम उल्लेख ‘आचारचूला’ में मिलता है। तत्पश्चात् ‘व्याख्याप्रज्ञप्ति’ के प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक में गौतम द्वारा असंयत भव्यद्रव्यदेव आदि के देवलोक में उत्पाद के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न के उत्तर में चरक परिव्राजक के रूप में मिलता है। ‘व्याख्याप्रज्ञप्ति’ में जो १४ प्रकार के आराधक-विराधक परिव्राजकों के उल्लेख मिलते हैं उनके स्वरूप इस प्रकार हैं-

१. असंयत भव्यद्रव्यदेव - जो साधु सामाचारी और साध्वाचार का पालन करता हो, किन्तु उसमें आन्तरिक साधुता न हो, केवल द्रव्यलिंगधारी हो, ऐसा भव्य या अभव्य मिथ्यादृष्टि वाला जीव असंयत भव्यद्रव्यदेव है।

२. अविराधित संयमी - दीक्षापर्यन्त जिसका चारित्र्य भंग न हुआ हो, वह अविराधित संयमी है।

३. विराधित संयमी - जिसने महाव्रतों को ग्रहण करके भलीभांति पालन नहीं किया है, वह विराधित संयमी है।

४. अविराधित संयमा-संयमी - जिसने देशविरति ग्रहण करके अन्त तक निर्बाध रूप से पालन किया है वह अविराधित संयमा-संयमी है।

५. विराधित संयमा-संयमी - जिसने देशविरति ग्रहण करके भली प्रकार से पालन किया है वह अविराधित संयमा-संयमी है।

६. असंज्ञी जीव - जिसके मनोपलब्धि नहीं है।

७. तापस - वृक्ष से गिरे हुए पत्तों को खाकर जीवन निर्वाह करनेवाला बाल तपस्वी तापस है।

८. कान्दर्पिक - हँसोड़ तथा काम सम्बन्धी वार्तालाप करने वाला साधु कान्दर्पिक है।

९. चरक - गेरुए या भगवे रंग का वस्त्र पहनकर घाटी अर्थात् सामूहिक भिक्षा द्वारा आजीविका चलाने वाले त्रिदण्डी, कुच्छोटक आदि साधु इसके अन्तर्गत आते हैं।

१०. **किल्बिषिक** - जो ज्ञान केवली, धर्माचार्य और साधुओं का अवर्णवाद करता है और पापमय भावनावाला है, वह किल्बिषिक है।

११. **तिर्यञ्च** - देशविरति श्रावकव्रत का पालन करनेवाले घोड़े, गाय आदि, जैसे नन्दन मणिहार का जीव मेढ़क के रूप में श्रावकव्रती था।

१२. **आजीवक** - जो अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए संयम पालन करते हैं उसे आजीवक कहते हैं। लोगों को चमत्कार दिखाकर अपनी आजीविका चलाने वाले साधु भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

१३. **आभियोगिक** - मंत्र, तंत्र, यंत्र, भूतकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, चूर्ण आदि के प्रयोग से दूसरों को वश में करनेवाला आभियोगिक साधु है।

१४. **दर्शनभ्रष्ट सलिंगी** - ऐसा साधक जो आगम के अनुरूप क्रिया करता हुआ भी जिनदर्शन से विरुद्ध प्ररूपणा करता है, वह दर्शनभ्रष्ट सलिंगी साधु कहलाता है।

'ज्ञाताधर्मकथांग' के अनुसार परिव्राजकों का स्वरूप कुछ इस प्रकार है-

१. **चरक** - इसका उल्लेख 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' में भी मिलता है जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

२. **चीरिक** - रास्ते में पड़े फटे कपड़ों को पहनने वाले परिव्राजक।

३. **चर्मखंडिक** - चमड़े का टुकड़ा पहनने वाले ।

४. **भिक्षांड** - केवल भिक्षा से जीवन निर्वाह करने वाले परिव्राजक इस श्रेणी में आते हैं। कहीं-कहीं बौद्ध भिक्षु को भिक्षांड कहा गया है।

५. **पण्डुरंग** - जो शरीर पर भस्म लगाते हैं।

६. **गौतम** - बैल को साथ लेकर चलने वाले। शिक्षित बैल द्वारा करामात दिखाकर जीविका चलाने वाले परिव्राजक इस कोटि में आते हैं।

७. **गोव्रती** - जब गाय खाना खाये तो खाना, जब गाय पानी पीये तो पीना, जब गाय सोये तो सोना, जब गाय चले तो चलना, इस प्रकार के आचरण करने वाले साधु गोव्रती परिव्राजक कहलाते थे।

८. **गृहधर्मी** - गृहस्थ धर्म को श्रेष्ठ मानने वाले।

९. **अविरुद्ध** - मोक्ष के लिए विनय को प्रमुख साधन मानना। इस कोटि के परिव्राजक गाय, भैस, कौवा आदि को प्रणाम करते थे।

१०. **विरुद्ध** - अक्रियावादी या नास्तिक साधु इसके अन्तर्गत आते हैं।

३६ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

११. **वृद्ध** - वृद्धावस्था में संन्यास ग्रहण करने वाले।

१२. **श्रावक** - धर्मशास्त्र श्रवण करनेवाले ब्राह्मण।

१३. **धर्मचिन्तक** - सतत् धर्मशास्त्र का अध्ययन करनेवाले।

१४. **रक्तपट** - लाल रंग के वस्त्र धारण करने वाले।

'औपपातिकसूत्र' के अनुसार परिव्राजकों के स्वरूप इस प्रकार हैं-

१. **सांख्य** - पुरुष-प्रकृति आदि २५ तत्त्वों में श्रद्धाशील रहनेवाले।

२. **योगी** - हठयोग के अनुष्ठाता।

३. **कापिल** - महर्षि कपिल के अनुयायी।

४. **भार्गव** - भृगुऋषि के अनुयायी।

५. **हंस** - जो गुफाओं और आश्रमों में रहते थे तथा भिक्षामात्र के लिए गाँव में जाते थे।

६. **परमहंस** - जो नदी तीर या संगम प्रदेश में रहते थे और अन्तिम समय में वस्त्र (चीर), कोपीन, कुश आदि का त्याग कर प्राणों का विसर्जन करते थे।

७. **बहुदक** - जो साधु गाँव में एक रात्रि और शहर में पाँच रात्रि रहते थे।

८. **कुटीचर** - जो घर में रहते हुए कषायों का त्याग करने का प्रयत्न करते हों, वे कुटीचर कहलाते हैं।

९. **कृष्ण परिव्राजक**- नारायण के परम भक्त कृष्ण परिव्राजक कहलाते हैं।

इन परिव्राजकों के अतिरिक्त चार प्रकार के और परिव्राजकों के उल्लेख मिलते हैं-

१. **आत्मोत्कर्षक** - अपनी गरिमा या बड़प्पन का बखान करने वाले।

२. **परपरिवादक** - दूसरों की निन्दा करने वाले।

३. **भूतिकर्मिक** - भस्म आदि के द्वारा रोग आदि को शान्त करने वाला।

४. **कौतुक कारक** - भाग्योदय सम्बन्धी चमत्कारिक बातें करने वाला।

तापस

'तवो से अत्थि तावसो' अर्थात् जो तप से युक्त है वह तापस है। तापस का सामान्य अर्थ तप करने वाला होता है। लेकिन पंचविंश ब्राह्मण में सर्पयज्ञ में दत्त होता पुरोहित के नाम के सन्दर्भ में तापस शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक साहित्य में तापस का उल्लेख उपनिषदों से पूर्व नहीं मिलता है। जैन साहित्य में तापस का

उल्लेख सर्वप्रथम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' में मिलता है। औपपातिकसूत्र के अनुसार २७ प्रकार के तापसों का स्वरूप इस प्रकार है-

१. **होतृक** - अग्नि में हवन देने वाले।
२. **पोतृक** - वस्त्र धारण करने वाले।
३. **कौतृक** - जमीन पर सोने वाले, यज्ञ व श्राद्ध करने वाले, फल आदि भोजन करने वाले।
४. **उन्मज्जक** - जल में एक बार डुबकी लगा कर नहाने वाले।
५. **सम्मज्जक** - जल में बार-बार डुबकी लगाकर नहाने वाले।
६. **निमज्जक** - जल में कुछ देर तक डूबकी लगाकर नहाने वाले।
७. **संप्रक्षालक** - मिट्टी आदि के द्वारा शरीर को रगड़कर नहाने वाले।
८. **दक्षिणकूलक** - गंगा के दक्षिणी तट पर निवास करने वाले।
९. **उत्तरकूलक** - गंगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले।
१०. **कूलध्यामक** - तट पर खड़े होकर शब्द करते हुए भोजन करने वाले।
११. **मृगलुब्धक** - व्याधों की भाँति हिरणों का माँस खाकर जीवनयापन करने वाले।
१२. **हस्तीतापस** - हाथी का वध करके महीनों तक उसका माँस खाने वाले।
१३. **उद्दण्डक** - दण्ड को ऊँचा करके धूमने वाला।
१४. **दिशाप्रेक्षी** - दिशाओं में जल छिड़ककर फलफूल इकट्ठे करने वाले तथा वृक्ष की छाल को वस्त्रों की भाँति धारण करने वाले।
१५. **बिलवासी** - भूगर्भगृहों में या गुफाओं में निवास करने वाले।
१६. **वेलवासी** - समुद्र तट के समीप निवास करने वाले।
१७. **जलवासी** - जल में निवास करने वाले।
१८. **वृक्षमूलक** - वृक्षों की जड़ में निवास करने वाले।
१९. **अम्बुभक्षी** - जलाहार करने वाले।
२०. **वायुभक्षी** - आहार के रूप में वायु ग्रहण करने वाले।

२१. **शैलावभक्षी** - जल जमाव से निर्मित काई का आहार करने वाले।
२२. **मूलाहारी** - मूल का आहार करने वाले।
२३. **कन्दाहारी** - कन्द का आहार करने वाले।
२४. **त्वचाहारी** - वृक्ष छाल का आहार ग्रहण करने वाले।
२५. **पत्राहारी** - वृक्ष के पत्रों को आहार रूप में ग्रहण करने वाले।
२६. **पुष्पाहारी** - फूलों का आहार ग्रहण करने वाले।
२७. **बीजाहार** - बीज को आहार रूप में ग्रहण करने वाले।

इन तापसों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे तापस थे जो कंद, मूल, फल आदि खाकर अपना जीवनयापन करते थे। कुछ साधक ऐसे भी थे जो पंचाग्नि की आतापना तथा सूर्य की आतापना से अपने शरीर को कठोर करते थे।

आजीवक

‘आजीवन्ति ये अविवेकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिश्चरणादीनि इत्याजीविकाः’, अर्थात् जो पूजा-प्रतिष्ठा के लिए संयम जीवन यापन करते हैं, वे आजीवक कहलाते हैं। ‘स्थानांगसूत्र’ में आजीवकों द्वारा किये जाने वाले चार तपों का उल्लेख मिलता है- उग्र तप, घोर तप, रसनिर्यूणा तप और जिह्वेन्द्रिय तप।

१. **उग्र तप** - षष्ठ भक्त उपवास, वेला, तेला आदि करना।
२. **घोर तप** - सूर्य की आतापना के साथ उपवास भी करना।
३. **रसनिर्यूहण तप** - घृत आदि रसों का परित्याग करना।
४. **जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप** - मनोज्ञ और अमनोज्ञ भक्तपानादि में राग-द्वेष रहित होकर जिह्वेन्द्रिय को वश में करना।

‘औपपातिकसूत्र’ में आजीवक के सात प्रकार बताये गये हैं-

१. **दुघरंतिया** - एक घर से भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् पुनः दो घर छोड़कर तृतीय घर से भिक्षा ग्रहण करने वाले।
२. **तिघरंतिया** - एक घर से भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् पुनः तीन घर छोड़कर भिक्षा ग्रहण करने वाले।
३. **सतघरंतिया** - एक घर से भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् पुनः सात घर छोड़कर भिक्षा ग्रहण करने वाले।

४. **उप्लबेदिया** - कमल की डंटल खाकर रहने वाले।

५. **घर सामुदाणिय** - प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करने वाले।

६. **उद्वियसमण** - किसी बड़े मिट्टी के बर्तन में बैठकर तप करने वाले।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में अनेक प्रकार की धार्मिक आम्नाय प्रचलित थीं। लेकिन 'औपपातिक' में जो उद्धरण ब्राह्मण और क्षत्रिय परिव्राजक के सन्दर्भ में वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने लिखा है- '**कण्ड्वादयः षोडश परिव्राजका लोकोऽवसेवा**' अर्थात् इन सोलह परिव्राजकों के विषय में लोक से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इससे ऐसा लगता है कि वृत्तिकार के समय तक इन परिव्राजकों के विषय में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं था या परिव्राजकों की ये परम्पराएँ प्रायः लुप्त हो गयी रही हों। आज भी बहुत-सी परम्पराएँ प्रायः लुप्त हो गयी हैं जिनके विषय में आगे कार्य करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ :

१. दशवैकालिकचूर्णि, अगस्त्य सिंह, पृ०- ८५.
२. वाचंयमो यती साधुरनगार ऋषिर्मुनिः।
निर्ग्रन्थो भिक्षुरस्य स्वं तपोयोगशमादयः॥ अभिधान चिन्तामणि, १/७६.
३. आचारांग, २/४१; ४/२०
४. आचारचूला, १/३२
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, १/२/१९
६. ज्ञाताधर्मकथांग, १५/५
७. औपपातिक, ७६
८. व्याख्याप्रज्ञप्ति, १/२/९
९. ज्ञाताधर्मकथांग, १५/५
१०. औपपातिक, ७६



वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं में सामाजिक पारस्परिकता

डॉ० सुधा जैन*

वैदिक एवं श्रमण परम्परा भारतीय संस्कृति की प्रमुख शाखाएँ हैं। अतएव इनमें पारस्परिक सम्बन्ध का होना आवश्यक है। लेकिन काल के प्रवाह में एक ऐसा भी समय आया जब ब्राह्मणवाद का वर्चस्व बढ़ा, फलतः श्रमण परम्परा की जैन शाखा के लोग अपने मूल स्थान बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश को छोड़कर राजस्थान के रेगिस्तानी इलाकों में तथा दक्षिण भारत के पर्वतों और जंगलों के बीच चले गये। दूसरी शाखा बौद्ध परम्परा के अनुयायी बिल्कुल देश छोड़कर विदेशों में जा बसे। यही कारण है कि बौद्ध परम्परा की अपेक्षा वैदिक और जैन परम्परा में सामाजिक पारस्परिकता की झलक ज्यादा दिखाई देती है।

भारतीय जीवन में जब भी समाज की कोई बात उठती है तो वैदिक परम्परा की वर्ण-व्यवस्था सर्वप्रथम सामने आती है, क्योंकि उससे समाज की उत्पत्ति तथा सामाजिक वर्गीकरण का बोध होता है। वेद वैदिक परम्परा के आधार ग्रन्थ हैं जिनमें 'ऋग्वेद' सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। 'ऋग्वेद' के पुरुषसूक्त में यह बताया गया है कि परमपुरुष के मुख, भुजा, उदर/ जाँघ तथा पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति हुई है।^१ 'रामायण' में भी कहा गया है कि विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य और पैरों से शूद्र-उत्पन्न हुए हैं।^२

जैन परम्परा में न तो सृष्टि की बात होती है और न ही किसी सृष्टिकर्ता की। समाज की उत्पत्ति नहीं होती है बल्कि विकास और ह्रास होता है। जैन धर्मानुसार जिस काल में हम लोग रह रहे हैं, उसका प्रारम्भ युगलिया काल से होता है। युगलिया काल में मनुष्य पक्षियों की भाँति युगल रूप में रहते थे। फिर उसके बाद कुलकर व्यवस्था आयी जिसके अन्तिम कुलकर भगवान ऋषभदेव के पिता नाभिराय थे। भगवान ऋषभदेव जिन्हें जैन धर्म का प्रथम तीर्थंकर माना जाता है, से समाज का विकास शुरू हुआ। उन्होंने असि, मसि, कृषि एवं लिपि, गणित, कला आदि की शिक्षा दी।

वैदिक परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- ये चार वर्ण माने गए हैं। ब्राह्मण के कर्म या धर्म हैं- पढ़ना-पढाना, यज्ञ करना-करवाना, दान देना तथा

* प्राध्यापक, पार्श्वनाथविद्यापीठ, आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी, वाराणसी-२२१००५

लेना आदि। क्षत्रिय के धर्म हैं- शासन करना और सुरक्षा प्रदान करना। वैश्य के धर्म हैं- कृषि और व्यापार तथा शूद्र का धर्म है- सेवा करना। सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और शूद्र निम्न स्तर का समझा जाता है। इस वर्ण-व्यवस्था के दो आधार हैं- जन्म और कर्म। जन्म के आधार पर यह माना जाता है कि ब्राह्मण कुल में जन्म लिया हुआ व्यक्ति आजीवन श्रेष्ठ और सम्मानित है। भले ही वह अनाचार, दुराचार कुछ भी करे। शूद्र कुल में जन्मा हुआ व्यक्ति हमेशा निम्न स्तरीय माना जाता है चाहे वह भले ही कितना ही सुकर्म करे। कर्म-सिद्धान्त के आधार पर यह माना जाता है कि जो जैसा कर्म करता है वह अपने कर्मानुसार ऊँच या नीच स्तर पर होता है। वैदिक परम्परा में जन्मगत तथा कर्मगत दोनों ही मान्यताएँ हैं। 'रामायण' में कर्म अर्थात् श्रम विभाजन की दृष्टि से समाज को चार भागों में बाँटा गया है। वाणी के स्थान मुख से प्रकट होने वाले ब्राह्मण मनुष्य जाति के शिक्षक रूप माने गये हैं। बल-वीर्य सूचक भुजाओं से सम्बन्ध होने के कारण क्षत्रियों का कर्म शस्त्र धारण करना, प्रजा की रक्षा करना है। शरीर के अधोभाग-जाँघों से निकलने वाले वैश्यों का काम श्रमपूर्वक धन और अन्न का उत्पादन करके समाज का भरण-पोषण करना है। इसी प्रकार पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति बताकर उन्हें अन्य वर्णों की सेवा करना बताया गया है।^३ श्रीकृष्ण ने भी गीता^४ में कहा है-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्धियकर्तारमव्ययम्।

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चार वर्णों की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है। वर्ण जन्म द्वारा नहीं गुणों द्वारा निर्धारित होता है। वर्ण का प्रमाण गुण होता है, जैसे साधु का प्रमाण साधुता है। लेकिन साधु कुल में जन्म लेने से कोई साधु नहीं बन जाता। श्रेष्ठता का प्रमाण-श्रेष्ठ कर्म है। श्रेष्ठ पिता का नाम पुत्र को श्रेष्ठ नहीं बना सकता, अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं है वही उसका वर्ण है। व्यक्ति का जीवन ही उसका वर्ण निश्चित करता है।^५ कर्मगत मान्यता प्राचीन काल में ही श्रीकृष्ण के द्वारा प्रतिपादित हुई और गीता जिसमें यह मान्यता प्रतिपादित है, वह आज भी हिन्दू धर्म का एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। मनु ने भी कर्म और गुण के आधार पर ब्राह्मणों को सात्त्विक गुणों तथा विशुद्ध कर्मों वाला, क्षत्रिय को विषय भोग में आसक्त, वीरता युक्त रजोगुण वाला, वैश्यों को रजस और तमस गुणों वाला और शूद्रों को पूर्ण तामसी अर्थात् प्रमादी, अधीर, लोभी, संस्कारच्युत और नास्तिक माना है।^६ 'महाभारत' के शान्तिपर्व में प्रत्येक वर्ण को विभिन्न रंगों से इंगित किया गया है- ब्राह्मण श्वेत, क्षत्रिय लोहित, वैश्य पीत और

शूद्र श्याम रंग के बताये गये हैं^{१०} इसी प्रकार 'शतपथब्राह्मण' में देवताओं को भी वर्ण के आधार पर वर्गीकृत किया है जैसे- अग्नि, प्रजापति^{११} और वृहस्पति^{१२} को ब्राह्मण; इन्द्र, वरुण, सोम, रूद्र, पर्यजन्य, यम, मृत्यु व ईशान को क्षत्रिय; वसु, आदित्य, विश्वदेव, मरुत को वैश्य तथा पूषा (पूषण) को शूद्र कहा गया है।^{१३} फिर भी वैदिक परम्परा में कर्मगत मान्यता की चलन व्यवहार में पहले-से ही कम देखी जाती है।

श्रमण परम्परा वर्ण-व्यवस्था को बिल्कुल नहीं मानती है। इसमें कर्मगत मान्यता सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में ही है। यद्यपि इसमें सामाजिक वर्गीकरण जैसी कोई चीज नहीं है। सब लोग अपने-अपने अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। किसी तरह का कर्मगत या जन्मगत प्रतिबन्ध नहीं है। श्रमण परम्परा क्षत्रिय प्रधान परम्परा है, किन्तु इसमें क्षत्रिय शासन और सुरक्षा नहीं करते जो कि वर्ण-व्यवस्था में मान्य है। ये कृषि, व्यापार या अन्य कर्म करते हुए अपना भरण-पोषण करते हैं। कर्म को प्रधानता देते हुए 'उत्तराध्ययनसूत्र'^{१४} में कहा गया है-

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।

वइस्से कम्मुणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा ।।

अर्थात् कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है। 'महावस्तु'^{१५} में भी कहा गया है-

Chatvari me bhikshavah varnah katame chatvarah:

Kshatriya Brahmana Vaisya Sudrah.

इसी प्रकार खुद्दकनिकाय^{१६} में कहा गया है-

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो ति।

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।

कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो।।

श्रमण परम्परा के द्वारा वर्ण-व्यवस्था का विरोध होते हुए भी ब्राह्मणवादी लोगों ने श्रमण परम्परा के लोगों को वैश्य घोषित कर दिया। जब श्रमण परम्परा के लोग वर्ण-व्यवस्था से अपने को अलग मानते हैं तब उन पर वर्ण-व्यवस्था की मान्यता को लादने का प्रश्न ही नहीं उठता है? फिर भी अल्पसंख्यक होने के कारण

इन लोगों को ब्राह्मणवादी मान्यता अपने ऊपर लादनी पड़ी और ये लोग अपने को वैश्य समझने लगे।

ब्राह्मण परम्परा ने भले ही अपनी मान्यता श्रमण परम्परा पर किसी न किसी रूप में लागू कर दी, पर ऐसा मानने में कोई आशंका नहीं होती है कि समाज में कर्मगत मान्यता को व्यवहार में श्रमण परम्परा ने ही लाया है और उससे प्रभावित होकर ब्राह्मण परम्परा के लोगों में भी कर्म पर पहले जैसा प्रतिबंध नहीं देखा जाता है। ब्राह्मण वैदिक परम्परा के सिरमौर समझे जाते हैं। वे भी खेती, व्यापार या अन्य कर्म करते हैं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी अब पढ़ते हैं, पढाते हैं।

विवाह समाज का एक प्रमुख विषय है, क्योंकि इसी से समाज बनता है। भारतीय संस्कृति में विवाह के लिए जातिगत तथा धर्मगत प्रतिबंध पहले से चले आ रहे हैं। लेकिन वैदिक परम्परा के वैश्य वर्ग के कुछ लोग तथा जैन धर्मावलम्बियों के कुछ लोगों के बीच विवाह होते हैं। इन लोगों में कुल प्रतिबंध नहीं देखा जाता है, जैसे अग्रवाल आदि। जहाँ तक शादी की विधि की बात है तो जैन परम्परा में कुछ आचार्यों ने नई विधियों का प्रतिपादन किया है, फिर भी अधिकांश शादियाँ वैदिक रीति से ही होती हैं।

समाज में अर्थ का बहुत महत्त्व होता है। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। जैन मान्यतानुसार कृषि की शिक्षा भगवान ऋषभदेव ने दी। वैदिक परम्परा के राम बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत^{१५} के समकालीन थे और उन्हीं के समय राजा जनक ने भी कृषि को प्रधानता देते हुए अकाल पड़ने पर हल चलाया था। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों ही परम्परायें कृषि को प्रधानता देती हैं। इस तरह न केवल वैदिक परम्परा बल्कि जैन परम्परा का भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जैन मान्यतानुसार ब्राह्मी लिपि जो बहुत ही प्रचलित लिपि है, उसे ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखलाई थी तथा भरतनाट्यम् जिसे बहुत प्रसिद्धि प्राप्त है वह भी जैन परम्परा की ही देन है, क्योंकि ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत को ७२ कलाओं की शिक्षा दी थी। जैन मान्यतानुसार यह भरतनाट्यम् उन्हीं के नाम पर है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जैन परम्परा ही के विभिन्न प्रभाव वैदिक परम्परा पर हैं, क्योंकि व्यवहार में बहुत-सी ऐसी बातें देखी जाती हैं जिससे स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा भी वैदिक परम्परा से बहुत हद तक प्रभावित है। जैसे जैन लोगों के द्वारा विभिन्न स्थानों पर जन्माष्टमी के समय कृष्ण की पूजा होती है और जन्माष्टमी विधिवत मनाई जाती है। ऐसे ही नवरात्र के समय दुर्गा की पूजा होती है। नागपंचमी के समय नाग की पूजा होती है। इस तरह से वैदिक और जैन दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं।

इतना ही नहीं, बल्कि दोनों परम्पराओं के सन्तों की उक्तियाँ भी ऐसी मिलती हैं जो मात्र उन्हीं की परम्परा तक सीमित नहीं हैं, बल्कि अन्य सभी परम्पराओं को भी प्रभावित करने वाली हैं। उदाहरणस्वरूप वैदिक परम्परा के महान संत स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि हमें ऐसा ईश्वर नहीं चाहिए जो स्वर्ग में तो सभी सुख दे पर पृथ्वी पर एक रोटी भी नहीं दे। इसमें रोटी की बताई गई महत्ता वैदिक परम्परा के लोगों के लिए ही नहीं, बल्कि श्रमण परम्परा तथा अन्य परम्पराओं के लोगों के लिए भी है। इसी तरह जैन परम्परा के महान संत आचार्य तुलसी^{१५} ने कहा है- वह समाज समाज कहलाने का अधिकारी नहीं है जिस समाज का एक भी व्यक्ति भूख से पीड़ित हो, जिस समाज का एक भी व्यक्ति पैसे के अभाव में अपने बच्चों को शिक्षित करने में असमर्थ हो। इस कथन से भी यह ज्ञात होता है कि यह मात्र जैन समाज तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वैदिक समाज एवं अन्य समाजों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ :

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासिद् बाहु राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो पद्भ्यां शूद्रो अजायतः॥ ऋग्वेद, द्वितीय भाग १०/९०/१२, भाष्यकार- स्वामी दयानन्द सरस्वती, प्रका०- दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।
२. मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पदभ्यां शूद्रा इति श्रुतिः॥ वाल्मीकि रामायण, भाग-३, ३/१३/३०, सम्पा०- पी० सी० दीवान, प्रका०- ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, प्रथम संस्करण, १९६३।
३. व्यास, डॉ. शान्ति कुमार नानूराम, रामायणकालीन समाज, पृ०-७६, प्रका०- सत्साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- १९५८।
४. भगवद्गीता, ४/१३
५. अर्पणा, भगवद्गीता : आधुनिक युग आधार, भाग-१, पृ०- ३०७, प्रका०- अर्पणा आश्रम, मधुवन, करनाल, हरियाणा, द्वितीय संस्करण, १९९४।
६. मनुस्मृति, १२/२७/३०
७. ब्राह्मणानां तुसितो क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पतिको वर्ण शूद्रणामसितस्तथा॥ महाभारत (शान्तिपर्व), १८८/५

८. शतपथब्राह्मण, १३/२/६/९ ।
९. वही, ५/३/५/८, १३/६/२/८ ।
१०. वही, १४/४/२/२३-२६ तथा ऐतरेयब्राह्मण, १/२/३ ।
११. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/३३, सम्पा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण-१९७२।
१२. महावस्तु, भाग-१, २६७, xxi, उद्धृत - डॉ० अंगने लाल, The Social Philosophy of Buddhism, A Tibetan Institute Publication, Varanasi, 1972.
१३. खुदकनिकाय, भाग-१, १/७/१४२ तथा ३/९/२४९, सम्पा०- भिक्खु जे० कश्यप, प्रका०- पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार सरकार, प्रथम संस्करण-१९५९।
१४. व्यासशिष्य, डॉ० कुँवरलाल जैन, तीर्थंकरों का इतिहास, पृ०- ९६, प्रका०- इतिहास विद्याप्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-१९९९ ।
१५. समणी कुसुमप्रज्ञा, एक बूँद एक सागर, भाग-५, प्रका०- जैन विश्वभारती, लाडनूँ, प्रथम संस्करण-१९९१।



जैन-जैनेतर धर्म-दर्शनों में अहिंसा

डॉ० श्यामकिशोर सिंह*

अहिंसा मानव जीवन के आदर्श मूल्य एवं धर्म के रूप में प्रतिष्ठित है। अहिंसा के अर्थ की विकास-यात्रा किसी एक कालक्रम में न होकर मानव जाति के विभिन्न वर्गों में सामाजिक चेतना एवं जीवन के विविध रूपों के प्रति संवेदनशीलता के विकास के फलस्वरूप हुई है। जो वर्ग या समाज जीवन के विविध रूपों के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना उसने अहिंसा के अर्थ को उतना ही व्यापक अर्थ दिया। भारतवर्ष ही नहीं, बल्कि विश्व के समस्त धर्मों में अहिंसा की अवधारणा किसी न किसी रूप में पायी जाती है। वैदिक परम्परा में उपनिषदों, महाकाव्यों, स्मृतियों एवं पुराणों में अहिंसात्मक विवेचन दृष्टिगत होते हैं। लेकिन अहिंसा के स्वरूप का जैन चिंतनधारा में जितना सूक्ष्म विवेचन हुआ है उतना शायद ही किसी अन्य चिन्तनधारा में किया गया हो। अहिंसा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दो पक्ष हैं। अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष जैन धर्म-दर्शन एवं समकालीन दार्शनिक चिंतक महात्मा गांधी के चिंतन में वृहत् स्तर पर देखने को मिलता है। अहिंसा की अवधारणा जीवन एवं जगत् से जुड़े होने के साथ-साथ जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन भी है।

जैन धर्म में अहिंसा

अहिंसा का अर्थ है- हिंसा न करना। अहिंसा का यह निषेधात्मक अर्थ है। अहिंसा का विधेयात्मक पक्ष भी है, यथा- दया, करुणा, प्रेम, दान, सेवा, सहानुभूति और सहयोग आदि। विधि और निषेध दोनों ही अहिंसा रूपी सिक्के के दो पहलू हैं। राग-द्वेष से युक्त प्रवृत्ति न करना, किसी जीव का प्राणघात न करना या फिर प्रवृत्ति मात्र का विरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है, तो सत् प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय करना, सेवा करना, उपदेश देना, ज्ञान चर्चा करना आदि आत्म हितकारी प्रवृत्ति विधेयात्मक अहिंसा है। यदि हम अहिंसा के केवल नकारात्मक पहलू पर ही विचार करते हैं तो अहिंसा का अधूरा विश्लेषण होगा। सम्पूर्ण विश्लेषण तभी सम्भव है जब अहिंसा के विधेयात्मक पक्ष पर भी उतना ही बल दिया जाए जितना कि निषेधात्मक पक्ष पर।

* व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, अवंध बिहारी सिंह महाविद्यालय, लालगंज, वैशाली, बिहार

जैन धर्म में इन दोनों पक्षों पर समान रूप से बल दिया गया है। अहिंसा को परिभाषित करते हुए 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है- सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सत्त्वों को न स्वयं मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात् पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उस पर प्राणघातक उपद्रव करवाना चाहिए, यह अहिंसा धर्म ही शुद्ध है।^१ इसी प्रकार 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है कि ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करें। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है। बस, इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए।^२ अहिंसा की ये परिभाषायें अपने आप में पूर्ण नहीं कही जा सकती हैं। अहिंसा की एक परिभाषा 'आवश्यकसूत्र' में मिलती है जो अहिंसा की पूर्ण परिभाषा कहलाने की योग्यता रखती है। कहा गया है- किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा नहीं करनी चाहिए, यही अहिंसा है।^३ मन, वचन और कर्म तीन योग कहलाते हैं तथा करना, करवाना और अनुमोदन करना तीन करण कहलाते हैं। इस प्रकार नौ प्रकारों से हिंसा न करना ही अहिंसा है। जैन दृष्टि में यही वास्तविक अहिंसा है।

अहिंसा के दो रूप हैं - भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा। कोई व्यक्ति यह संकल्प करता है कि मैं किसी भी प्राणी का घात नहीं करूँगा, यह भाव अहिंसा है। इसी प्रकार वास्तविक जीवन में भी किसी प्राणी की हिंसा न करना, न करवाना और न करने वाले का अनुमोदन ही करना द्रव्य अहिंसा है। अहिंसा को इस विभाजन के अतिरिक्त प्रवृत्ति और निवृत्ति के रूप में भी विभाजित किया गया है। जो विधेयात्मक और निषेधात्मक का ही रूपान्तरण है। अहिंसा के ये दोनों ही पक्ष एक साथ होते हैं। एक कार्य से जहाँ निवृत्ति होती है, वहीं दूसरे कार्य में प्रवृत्ति होती है। न तो केवल निवृत्ति की प्रधानता देखी जाती है और न केवल प्रवृत्ति की। यदि कोई व्यक्ति घुड़सवारी के लिए घोड़े की पीठ पर चढ़ता है तो वह चलने के लिए चढ़ता है, न कि घोड़े की पीठ पर जम जाने के लिए। वह घोड़े पर चढ़ता है और उसे गति भी देता है, किन्तु साथ ही घोड़े की लगाम भी पकड़े रहता है ताकि उसे जहाँ तक चलना है वहीं तक चले और जहाँ खड़ा होना है वहाँ खड़ा हो जाए। इस प्रकार घोड़े पर चढ़कर चलना प्रवृत्ति है और जरूरत पड़ने पर खड़ा हो जाना निवृत्ति है। तात्पर्य है जीवन की गति न तो उन्मुक्त, मर्यादाहीन और उच्छृंखल होनी चाहिए और न सर्वथा निष्क्रिय ही। इस तरह हम देखते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति, विधि और निषेध, भाव और अभाव दोनों अहिंसा में समाहित हैं। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक-दूसरे के अभाव में अहिंसा अपूर्ण है।

जैन परम्परा में दया, दान आदि को भी अहिंसा के अन्तर्गत रखा गया है। दया के लिए अनुकम्पा, करुणा आदि शब्द भी व्यवहृत होते हैं। दान का अर्थ

न्यायपूर्वक प्राप्त वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण है। सही अर्थों में दान वही है जो समता की भावना के साथ दिया जाए। बड़ा या छोटा समझ कर नहीं। करुणा को परिभाषित करते हुए 'योगशास्त्र' में कहा गया है- जो गरीब है या दुःख-दर्द से सन्तप्त है या भयभीत है या प्राणों की भीख माँगते हैं, ऐसे प्राणियों के कष्ट-निवारण की भावना का होना ही करुणा है।^५

वैदिक धर्म में अहिंसा

वैदिक परम्परा के अन्तर्गत 'ऋग्वेद' में 'पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः'^६ अर्थात् मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह एक-दूसरे की रक्षा करे, के रूप में एक-दूसरे के संरक्षण की बात कही गयी है। 'ऋग्वेद' के पाँचवें मण्डल में 'अर्यभ्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सद्मिद् भ्रातरं वा'^६, उद्धृत कथन अपने मित्र या हितैषी के प्रति हुई गलती के लिए अपराध बोध के साथ-साथ अहिंसा के विधेयात्मक पक्ष को भी प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार 'यजुर्वेद' में 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'^७ के रूप में सभी प्राणियों के प्रति मित्रभाव की कामना की गई है। इतना ही नहीं पृथ्वी लोक, द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक के साथ-साथ जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, देवता, ब्रह्म सभी शान्ति प्रदान करने वाले हों, ऐसा उद्घोष भी मिलता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल में अहिंसा का भाव नहीं था। इसी प्रकार उपनिषदों में भी यत्र-तत्र अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्'^८, 'प्राग्निहोत्रोपनिषद्'^९ आदि इसके प्रमाण हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्' में प्रजापति ने मनु से कहा है- जो नियमानुसार गुरु के कर्तव्य-कर्मों को समाप्त करता है, वेद का अध्ययन करता है तथा पुत्र-शिष्यादि को धार्मिक कर सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में स्थापित करता हुआ शास्त्र की आज्ञा से अन्य प्राणियों की हिंसा नहीं करता है वह निश्चय ही आयु समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।^{१०} 'शाण्डिल्योपनिषद्' में अहिंसा को दश यमों के अन्तर्गत गिनाया गया है। दश यम हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौचा।^{११} इसी प्रकार 'मनुस्मृति'^{१२}, 'रामायण'^{१३}, 'महाभारत'^{१४} में भी अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। 'महाभारत' के शान्तिपर्व^{१५} में विचक्षणु द्वारा नारद को अहिंसा के विषय में बताते हुए कहा है- जो धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो चुके हैं, वे मूर्ख हैं, नास्तिक हैं तथा जिन्हें आत्मा के विषय में सन्देह है, जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगों ने हिंसा का समर्थन किया है। परन्तु मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बलिवेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं। सम्पूर्ण भूतों के लिए जिन धर्मों का विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गयी है। यदि कहें कि मनुष्य युग-निर्माण के लिए जो वृक्ष काटते हैं और यज्ञ के नाम पर पशुबलि देकर जो मांस खाते

हैं, वह व्यर्थ नहीं बल्कि धर्म है, उनका यह कथन असत्य है, क्योंकि ऐसे धर्म की कोई प्रशंसा नहीं करता। सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावल की खिचड़ी, इन सब वस्तुओं को धूर्तो ने यज्ञ में प्रचलित किया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है।

यदि समीक्षात्मक दृष्टि से देखें तो यहाँ थोड़ा विरोधाभास नजर आता है, क्योंकि राजा विचक्षणु ने कहा है कि मनु ने पशुबलि का विधान नहीं किया है, जबकि 'मनुस्मृति' में यज्ञ के लिए पशुबलि की छूट दी गई है। परन्तु ज्यादातर स्थलों पर अहिंसा का समर्थन किया गया है। यदि यह कहा जाए कि महाभारत काल में अहिंसा का जितना अधिक विकास देखा जाता है उतना शायद ही किसी वैदिक साहित्य में देखने को मिलता हो, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'अनुशासनपर्व' में कहा गया है कि अहिंसा ही परम धर्म है, परम तप है, परम सत्य है और अन्य धर्मों की उद्गम स्थली है। यह परम संयम है, परम दान है, परम मित्र है तथा परम सुख है। अहिंसा सभी धर्मशास्त्रों में परम पद पर सुशोभित है, देवताओं और अतिथियों की सेवा, सतत धर्मशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, गुरु और आचार्य की सेवा तथा तीर्थयात्रा ये सब अहिंसा धर्म की सोलहवीं कला के बराबर है।

'गीता' में अहिंसा की अवधारणा कर्ममार्ग की व्याख्या के क्रम में पाते हैं। वस्तुतः यहाँ अहिंसा को एक प्रकार के तप या मुक्ति पाने के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि जिस पुरुष के अन्तःकरण में मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में अथवा सम्पूर्ण कर्मों में लिप्त नहीं होती वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मरता है और न ही पाप में बँधता है।^{१७} पुराणों में अहिंसा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। 'मत्स्यपुराण' में कहा गया है कि जितना पुण्य चार वेदों के अध्ययन से या सत्य बोलने से अर्जित होता है उससे भी कहीं अधिक पुण्य अहिंसा व्रत के पालन से होती है।^{१८} इस तरह के अहिंसात्मक कथन 'वायुपुराण'^{१९}, 'अग्निपुराण'^{२०}, 'ब्रह्मपुराण'^{२१}, 'भागवतपुराण'^{२२} आदि में दृष्टिगोचर होते हैं।

बौद्ध धर्म-दर्शन में अहिंसा

बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रारम्भ ही आचारमीमांसा से होता है। इसके पंचशील सिद्धांत का आधार अहिंसा ही है। सभी प्राणियों में एकात्मकता का भाव तथा "आत्मवत सर्वभूतेषु" की भावना उनके बौद्ध धर्म-दर्शन का मूल मंत्र है। बौद्धों के अनुसार हिंसा एक प्रकार का अनार्य कर्म है और अहिंसा आर्य। अहिंसा मात्र हिंसा से विरक्त रहने में नहीं है, बल्कि किसी भी प्राणी को हिंसा की ओर नहीं घसीटना तथा हिंसा का समर्थन

करने वाले प्राणी का विरोध करना भी अहिंसा है। बुद्ध की स्पष्ट मान्यता है कि अहिंसावादी व्यक्ति ही धार्मिक होता है और अहिंसक प्राणी ही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।^{२३} कहा गया है - The followers of Non-violence neither cause pain to some one nor provoke anybody to do so. चार आर्य सत्यों के पीछे भी अहिंसा के भाव निहित हैं। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यम-प्रतिपदा अहिंसा के विचार का आधार है। बुद्ध का विश्वास था कि यथार्थ अहिंसा धर्म का पालन हिंसा निवारण द्वारा उतना संभव नहीं है, जितना कि प्रेम और क्षमा के द्वारा संभव है। बौद्ध चिन्तन में अहिंसा की अपेक्षा मैत्री-भावना को उच्चतर माना गया है। कहा गया है-मैत्री भावना में जो शक्ति है वह अन्य किसी में नहीं है। जिस व्यक्ति में मैत्री भावना चैतन्य हो, जगी हो, उसे किसी भी स्थान पर और किसी भी प्राणी से डर नहीं होता। इसलिए हे भिक्षुओं! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिए।^{२४} बौद्ध साहित्य में जो अहिंसा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं उससे यही स्पष्ट होता है-बुद्ध हिंसा की आग को मैत्री एवं करुणा से बुझाना चाहते हैं। किन्तु यहाँ पर यह उल्लेख करना अन्यथा न होगा कि कालान्तर में बौद्ध धर्म के अनुयायी बुद्ध के अहिंसामूलक निर्देशों को संरक्षित न रख सके और जिस हिंसा के प्रतिरोध स्वरूप उसका उद्भव हुआ था, उसका परित्याग कर दिया।

इस्लाम धर्म में अहिंसा

बिस्मिल्लाह रहिम्मनुरहीम, अर्थात् ऐ खुदा! सभी जीवों पर रहम कर। ये वचन 'कुरानशरीफ' के प्रारम्भ में आये हैं। यद्यपि इस्लाम धर्म में अहिंसा को कहीं परिभाषित नहीं किया गया है, लेकिन यत्र-तत्र कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं जो अहिंसा को इंगित करते हैं, जैसे- गाली न देना, क्रोध न करना, लोभवृत्ति का त्याग करना, चुगली न खाना, खून-खराबा से दूर रहना, रिश्त नही लेना, बेईमानी न करना, चापलूसी न करना, मदिरापान न करना, हिंसा न करना, असत्य न बोलना, युद्ध न करना आदि। इसी प्रकार दान, स्वच्छता, ब्रह्मचर्य, क्षमा, मैत्री, कृतज्ञता, न्याय, दया, उदारता, प्रेम आदि को ग्रहण कर सत् पथ पर चलने के लिए प्रेरित किया गया है।^{२५} इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस्लाम धर्म भी कुछ हद तक अहिंसा की दृष्टि को लेकर चलता है, परन्तु इस्लाम में जंगली पशुओं की हत्या करने की छूट दी गई है।^{२६} इस दृष्टि से इस्लाम परम्परा का अहिंसा सिद्धान्त विरोधाभास से ग्रसित है।

ईसाई धर्म में अहिंसा

ईसाई धर्म में मुख्य रूप से प्रेम, करुणा और सेवा की भावना पर विशेष बल दिया गया है। प्रभु ईसा ने कहा है- व्यभिचार मत करो, हिंसा मत करो, चोरी

मत करो, गलत साक्षी मत बनो एवं माता-पिता के प्रति श्रद्धा भाव रखो। किसी जीव की हिंसा मत करो। तुमसे कहा गया था कि तुम अपने पड़ोसियों से प्रेम करो और दुश्मनों से घृणा। पर मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम अपने दुश्मन से प्यार करो और जो लोग सताते हैं, उनके लिए प्रार्थना करो। तभी तुम स्वर्ग में रहने वाले अपने पिता की सन्तान कहलाओगे, क्योंकि वह भले और बुरे दोनों पर अपना सूर्य उदय करता है।^{२७} ईसाई धर्म में दान को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कहा गया है-यदि कोई ईश्वर को जानने का दावा करता है और दान को नहीं जानता तो इसका मतलब है कि वह ईश्वर को पूर्णरूपेण नहीं जानता है। क्योंकि दान ही तो उसका सार है जिसके द्वारा ईश्वर को जाना जा सकता है।^{२८}

यहूदी धर्म में अहिंसा

यहूदी धर्म में निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों प्रकार की अहिंसा का विवेचन मिलता है। मोजेज द्वारा दिये गये दस आदेशों में से छठे, सातवें, आठवें, नौवें और दसवें आदेशों में कहा गया है - किसी को मत मारो, व्यभिचार मत करो, पड़ोसी के खिलाफ गलत धारणा मत बनाओ एवं पड़ोसी की स्त्री, नौकर, नौकरानी, बैल, गधे आदि को लोलुपता की दृष्टि से मत देखो।^{२९} इसी तरह विधेयात्मक अहिंसा को निरूपित करते हुए कहा गया है- बन्धुत्व के प्रति प्रेम जाति एवं धर्म की सीमाओं के ऊपर है, इसलिए अपने पड़ोसी को प्यार करो, उनके प्रति मन में घृणा का भाव मत रखो। पड़ोसी से प्यार करना सबसे बड़ा धर्म है, न्याय है और पड़ोसियों से घृणा करना ईश्वर से घृणा करना है। तुम दूसरों से भी वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम अपने प्रति चाहते हो।^{३०}

पारसी धर्म में अहिंसा

पारसी धर्म, जिसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अवेस्ता' है, के जन्मदाता महर्षि जरथ्रुस्त्र थे। 'अवेस्ता' के सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि इस धर्म के सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान आराध्य अहुरामजदा ने स्वयं अपने हाथों से इसे जरथ्रुस्त्र को दिया था। अवेस्ता के अनुसार मनुष्य के प्रमुख तीन^{३१} कर्तव्य हैं- शत्रु को मित्र बनाना, दानव को मानव बनाना और अज्ञानी को ज्ञानी बनाना। इनमें से शत्रु को मित्र बनाना अहिंसा की परिधि में आता है।

ताओ धर्म में अहिंसा

लाओत्से ने कहा है- कार्य करना परन्तु कर्तापन का भाव मन में न आना, कर्म करना पर उससे उत्पन्न दुःख-दर्द की अनुभूति नहीं करना, भोजन करना, पर

उसके अच्छे-बुरे पर विचार न करना, छोटे को बड़ा समझना, थोड़े को भी अधिक समझना और हिंसा से उत्पन्न घाव पर मरहम और दया की पट्टी लगाने का भाव रखना आदि।^{३०} लाओत्से ये वचन अहिंसा को पोषित करते हैं।

कन्फ्यूसियस धर्म में अहिंसा

कन्फ्यूसियस ने विधेयात्मक अहिंसा पर बल दिया है। उन्होंने कहा है- जीवन के प्रवाह में प्यार की बाढ़ ला दो, मैत्री का संचार करो। यदि तुम दान करते हो तो दिल का दान करो, मात्र दानी कहलाने के लिए किसी को कुछ मत दो, बल्कि जिसे तुम कुछ देते हो उसके प्रति हार्दिक सहानुभूति रखो। सब एक-दूसरे को प्यार करो। जो लोग अच्छे होते हैं, वे सबको प्यार करते हैं, दूसरों की अच्छाई को देखते हैं तथा अपनी ही तरह दूसरों का भी उत्थान चाहते हैं।^{३३}

गाँधीवाद में अहिंसा

अहिंसा के विषय में ऐसी धारणा बनी हुई है कि इस पर चलना कांटों के मार्ग पर चलना है। लेकिन मानव की इस धारणा को महात्मा गांधी ने निर्मूल कर दिखाया है। यही कारण है कि महात्मा गांधी का नाम आते ही अहिंसा का स्वरूप आंखों के सामने घूमने लगता है। यदि अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष को 'गांधी' कहें और उसके व्यावहारिक पक्ष को 'महात्मा' तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। गांधी के अनुसार अहंत्व पर आधारित जितनी भी मानुषिक क्रियाएँ हैं, वे सभी हिंसा ही हैं, जैसे- स्वार्थ, प्रभुता की भावना, जातिगत विद्वेष, अपने व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थों का अन्ध साधन, शस्त्र-शक्ति के आधार पर अपनी कामनाओं की संस्तुति, अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण आदि। ठीक इसके विपरीत अहंत्व के विनाश की स्थिति अहिंसा है।^{३४} अहिंसा को परिभाषित करते हुए गांधी जी ने कहा है- अहिंसा ही सत्येश्वर का दर्शन करने का सीधा और छोटा-सा मार्ग दिखाई देता है।^{३५} अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। अहिंसा प्रचण्डीशास्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरु से भागती है। वह वीर पुरुष की शोभा है। उसका सर्वस्व है। वह आत्मा का विशेष गुण है।^{३६} अहिंसा की एक विशेषता यह भी है कि इसकी सहायता बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं। अहिंसा जितना लाभ एक व्यक्ति को प्रदान कर सकती है, उतना ही एक जनसमूह को अथवा एक राष्ट्र को प्रदान कर सकती है। यदि कोई ऐसा समझता है कि यह केवल व्यक्ति के लिए ही लाभकर है तो ऐसा समझना उस व्यक्ति की सर्वथा भूल है।^{३७}

आज राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव त्रस्त है। सारा जगत् विज्ञान एवं भौतिकवाद में जकड़ चुका है। ऐसी स्थिति में विनाश के इस प्रलयकारी दृश्य को

रोकने में यदि कोई समर्थ है, तो वह एकमात्र भगवान् महावीर की अहिंसा ही है। अतः यह कहना सर्वथा उचित होगा कि भगवान् महावीर की अहिंसा की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी महावीर के काल भी नहीं थी। अहिंसा सम्पूर्ण विश्व के लिए वरदान है, अतएव आज आवश्यकता है पुनः इस मार्ग पर चलने की।

संदर्भ :

१. आचारांगसूत्र, १/४/१
२. सूत्रकृतांग, १/१/४/१०
३. आवश्यकसूत्र, १/३
४. योगशास्त्र, चतुर्थप्रकरण
५. ऋग्वेद, ६/७५/१४
६. वही, ५/८५/७
७. यजुर्वेद, ३६/१८
८. यजुर्वेद, ३६/१७
९. छान्दोग्योपनिषद्, ८/१५/१
१०. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, चतुर्थ खण्ड
११. छान्दोग्योपनिषद्, ३/१७/४
१२. सिन्हा, बशिष्ठ नारायण, जैन धर्म में अहिंसा, पृ०- १२
१३. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । मनुस्मृति, २/१५९
वही, ६/६०
१४. वाल्मीकि रामायण, ६/४४
१५. अनुशासनपर्व (महाभारत), ११५/२३, ११६/२८-३०
१६. सिन्हा, बशिष्ठ नारायण, जैन धर्म में अहिंसा, पृ०- ३३
१७. गीता, १८/१७
१८. मत्स्यपुराण, १०५/४८
१९. वायुपुराण, १८/१३

५४ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

२०. अग्निपुराण, ३७२/३-६

२१. ब्रह्मपुराण, २२४/४९-५४

२२. भागवतपुराण, १/७/११/८

२३. सिन्हा, मृत्युंजय नारायण, 'कुछ बिखरे विस्मृत आलेख' पृ०- २४

२४. संयुक्तनिकाय, अनु०- भिक्षु जगदीश काश्यप, १/३०६-३०७

25. *Glimpses of World Religion*, p. 203

26. *Towards understanding Islam*, Sayyid A'bul A'la Maududi, p.186-187

२७. उपाध्याय अमरमुनि, चिन्तन की मनोभूमि, सम्पा०- बशिष्ठ नारायण सिन्हा,
पृ०-२४९

२८. सिन्हा, बशिष्ठ नारायण, जैन धर्म में अहिंसा, पृ०- ८८

29. *Glimpses of World Religion*, p. 142

30. *Glimpses of World Religion*, p. 157

31. Ibid, 130

32. *Great Asian Religions*, p. 154

33. *Glimpses of World Religion*, p. 233-234

३४. अहिंसा (गांधीजी), भाग-१, खण्ड-१०, आमुख

३५. वही, पृ०- ७१

३६. वही, ७८-१०१

३७. वही, भाग-२, खण्ड-१०, पृ०-१६९



जैन एवं बौद्ध धर्मों में चतुर्विध संघों का परस्पर योगदान

डॉ० शारदा सिंह*

जैन एवं बौद्ध धर्मों के विकास में उनके संघों का महत्वपूर्ण स्थान है। संघ ही श्रमणधारा के मूलभूत आधार स्तम्भ हैं जिन पर पूरा जैन व बौद्ध धर्म स्थित है। वैसे तो संघों के अस्तित्व की सूचना प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से ही मिलनी प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु ऐसा लगता है कि विधिवत रूप से संघ की अवधारणा का विकास बहुत अन्तराल के पश्चात् हुआ। बुद्ध और महावीर के अनुयायी प्रारम्भ से ही संघ में ही दीक्षित होते थे, किन्तु उन संघों के नियमों व विधानों का विवरण ग्रन्थों में नहीं मिलता है। स्पष्ट है कि संघ की स्थापना के बहुत बाद संघ के विस्तृत नियम बनें होंगे। बौद्ध धर्म में पहले केवल भिक्षु संघ ही था। भिक्षुणी संघ को बाद में महाप्रजापति गौतमी के विशेष अनुरोध पर स्थापित किया गया। बौद्ध संघ की अपेक्षा जैन संघ में श्रमण और श्रमणी संघ की स्थापना साथ-साथ हुई और उनके नियम भी समान थे। इस बात की प्रामाणिकता हमें 'आचारांग' और 'दशवैकालिक' जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों में वर्णित 'भिक्षु वा भिक्षुनी' और 'निगगन्थ वा निगगन्थी' से पता चलता है। 'संघ' के सम्बन्ध में हमें 'ज्ञाताधर्मकथा', 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक' आदि जैन ग्रन्थों से तथा 'चुल्लवग्ग', 'भिक्षुणी विनय' आदि बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है। इन ग्रन्थों में 'संघ' शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है, किन्तु संघ शब्द की स्पष्ट व्याख्या का वहाँ भी अभाव रहा है।

जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी भिक्षुओं को व्यवस्थित रखने के लिए एक समूह रूप संघ की स्थापना की गयी थी। यह चतुर्विध संघ एक स्वचालित संस्था थी, जिसका विधान उस समय के गणराज्यों के समान था। बुद्ध ने बिना किसी जाति का भेद-भाव किये सधर्म में सबका समान रूप से अधिकार माना और चातुर्वर्ण्य शुद्धि का प्रचार किया तथा ब्राह्मण को किसी उच्च वंश में जन्म लेने के

* पी०डी०एफ० (ICPR), पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी,
वाराणसी-२२१००५

परिणामस्वरूप नहीं, अपितु उत्तम प्रकृति और ज्ञानी होने के कारण उच्च माना।^१ तभी तो उनके संघ में एक नीच कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति आर्यधर्म विनय को जानने वालों में श्रेष्ठतम गिना गया।^२ स्पष्ट है कि बौद्ध संघ एक गणतन्त्रीय व्यवस्था थी तथा तथागत के लिये भिक्षु संघ का संगठन गणराज्यों के संविधान से सर्वथा असम्बद्ध न था। 'महापरिनिर्वाणसूत्र' में वज्जियों के सात अपरिहेय धर्मों का उल्लेख है जिनमें प्रथम चार धर्म भिक्षुओं के जीवन को पूर्णतः अनुशासित करने वाले हैं। वे चार हैं- संघ की सन्निपात बहुलता, समग्रता, यथाप्रज्ञप्त शिक्षापादों का असमुच्छेद और स्थविर भिक्षुओं का सत्कार। शेष तीन धर्म हैं- तृष्णा के वश में न होना, आरण्यक शयनासन में सापेक्ष होना और प्रत्यात्म स्मृति को उपस्थापित करना आदि। वास्तव में यही बौद्ध धर्म के चतुर्विध संघों की सफलता का सूत्र था कि लोग मिल-जुलकर आपस में बातचीत कर महत्वपूर्ण निर्णय लेते थे, परम्परानुसार चलते थे और बड़े-बूढ़ों का नेतृत्व स्वीकार करते थे।^३

जैन संघ में भी अनेक गणों, गच्छों एवं शाखाओं का समावेश होते हुए भी वह एक स्वचालित संस्था थी। संघ का मुख्य आधार-स्तम्भ भिक्षु-भिक्षुणी व श्रावक-श्राविका थे, जिनके आपसी सामंजस्य व सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध से जैन संघ पुष्पित और पल्लवित हुआ। श्रावक-श्राविका और भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य अत्यन्त भावपूर्ण सम्बन्ध ने संघ को लम्बे समय तक कलह और विवाद से दूर रखा। दोनों ही संघ अपने-अपने दायित्वों का निर्वहन भलीभाँति करते थे। श्रावक-श्राविका संघ में नैतिक पतन होने पर श्रमण संघ वहाँ अध्यात्मपूर्ण उपदेश देकर उनका चारित्रिक उत्थान करता था और उपासक वर्ग भी हमेशा भिक्षु-भिक्षुणियों के खान-पान आदि की समुचित व्यवस्था बिना किसी भेद-भाव के करते थे। यही कारण था कि अनेक विपरीत परिस्थितियों में भी उनके आपसी सहयोग से यह चतुर्विध संघ अविच्छन्न रहा।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपने-अपने नये धर्म और संघ की स्थापना की तब उस वक्त भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी के संघ से बड़े अन्य संघ भी मौजूद थे, किन्तु ऐसी क्या वजह थी कि ये दोनों संघ इतने आगे बढ़ गये विशेषकर बौद्ध संघ जिसने न केवल हिन्दुस्तान, अपितु पूरे एशिया पर अपना प्रभाव डाला। इसका उत्तर है कि यद्यपि उस समय के अन्य संघ भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी के संघ से बड़े थे, लेकिन वे साधारण जनसमाज की चिन्ता नहीं किया करते थे। उनमें से अधिकतर लोगों का ध्येय तपश्चर्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करना था। गाँवों और शहरों में प्रवेश करके वे गृहस्थों से भिक्षा लेते और समय-समय पर अपने सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान से उन्हें अवगत कराते। फिर भी गृहस्थों के हित/सुख के लिये वे विशेष प्रयत्नशील नहीं थे। किन्तु जैन और बौद्ध

संघ की बात ठीक इससे उल्टी थी। जैसा कि भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपने संघ के भिक्षुओं से कहा था कि लोगों के हित और सुख के लिये चारों दिशाओं में जाओ। इस प्रकार के कार्यों से भिक्षु संघ दीर्घ जनसमाज में प्रिय और मान्य हो गया। फलतः बुद्ध और महावीर के उपासकों की संख्या बढ़ती ही गयी और श्रमणों व उपासकों के मध्य एक सुन्दर और सही तालमेल बैठा।

जैन और बौद्ध, दोनों ही चतुर्विध संघों में संघ की प्रतिष्ठा व पवित्रता बनी रहे इसके लिये स्त्री-पुरुषों के प्रवेश सम्बन्धी कुछ नियमों का विधान किया गया था। दोनों ही धर्मों में प्रारम्भ में तो संघ में प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को बिना किसी पूछ-ताछ के उसकी स्वयं की इच्छा से संघ में प्रवेश दे दिया जाता था, किन्तु कालान्तर में अभिभावकों की इच्छा को देखते हुए माता-पिता या अभिभावक की अनुमति को आवश्यक माना जाने लगा। क्योंकि माता-पिता की अनुमति के बिना संघ में प्रवेश देने से कई व्यवधान उत्पन्न होने लगे। कई व्यक्ति तो अपने माता-पिता या आश्रितों के लिए एकमात्र सहारा होते थे और उनके प्रव्रजित हो जाने पर परिवार के निर्वहन की समस्या उत्पन्न हो जाती थी, अतः दीक्षित होने के लिए माता-पिता, पति या पत्नी आदि की अनुमति को आवश्यक माना जाने लगा। 'महावग्ग' में वर्णन है- स्वयं भगवान बुद्ध के एकमात्र पुत्र राहुल के प्रव्रज्या ग्रहण करने से दुःखी संतप्त उनके पिता राजा शुद्धोधन ने गौतम के सामने यह प्रस्ताव रखा कि आगे से बिना अभिभावक की अनुमति से कोई भी प्रव्रज्या न ग्रहण करे।^१ संघ में प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को अनेक प्रकार के प्रश्नों के समाधान के पश्चात् ही संघ में प्रवेश दिया जाने लगा। कुष्ठ, किलास, शोथ, अपस्मार, दास आदि को भी बौद्ध संघ में प्रवेश के अयोग्य माना गया है।^२ 'स्थानांगसूत्र' में भी ऐसे बीस व्यक्तियों की सूची दी गयी है जो संघ में प्रवेश के सर्वथा अयोग्य माने गये थे। इसी भाँति बौद्ध धर्म के 'चुल्लवग्ग' और 'भिक्षुणी विनय' में भी उल्लेख है कि अनेक प्रश्नों के उचित समाधान के पश्चात् ही संघ में प्रवेश दिया जाता था। यद्यपि बौद्ध संघ में ज्यादातर प्रश्नों को उपसम्पदा प्रदान करते समय पूछा जाता था, ताकि प्रव्रज्या प्राप्त करने के पश्चात् इन दोषों के कारण किसी शिक्षमाण या शिक्षमाणा को निराश न होना पड़े। संभवतः इन नियमों के विधान की आवश्यकता संघ की अनावश्यक वृद्धि और उसके पश्चात् होने वाले विवादों को रोकने तथा संघ की पवित्रता को बनाए रखने के लिये की गयी। अयोग्य व्यक्ति के संघ के प्रवेश करने से भिक्षुओं के चारित्रिक पतन की संभावना थी। संघ सभी प्रकार के झगड़ों और अयोग्य व्यक्ति के प्रवेश के उपरान्त उत्पन्न हुए व्यवधान से अपने आपको मुक्त रखना चाहता था। अतः संघ जो एक पवित्र संस्था थी और धार्मिक कार्यों का निर्वहन ही उसका मुख्य उद्देश्य था, इसलिए

इस तरह के नियम बनाये गये जिससे किसी प्रकार का कोई व्यवधान उत्पन्न न हो और संघ की पवित्रता बनी रहे।

प्रारम्भिक काल से ही संघ में भिक्षु-भिक्षुणी और श्रावक-श्राविका का अत्यन्त स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहा है। ये दोनों ही संघ परस्पर एक-दूसरे का हर प्रकार से ख्याल रखते थे। भिक्षुओं की आवश्यकता के वस्त्र, पात्र, भोजन आदि की उचित व्यवस्था उपासक ही करते थे। बौद्ध संघ में वर्षान्त के पश्चात् उपासकों द्वारा भिक्षु व भिक्षुणी संघ को वस्त्र बाँटे जाते थे। इतना ही नहीं यदि कोई भिक्षु अज्ञानता वश किसी गृहस्थ या उपासक को हानि पहुँचा देता था या उसकी निन्दा जैसा नीच काम करता था तो वह संघ (बौद्ध) द्वारा प्रसारणीय कर्म का भागी होता था और उसे उस गृहस्थ से क्षमा भी मांगनी पड़ती थी।^६

दोनों ही धर्मों के श्रमण संघों में भिक्षुओं और उपासकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध का कारण दोनों ही संघों का एक-दूसरे को उचित आदर देना भी था। श्रावक या उपासक भिक्षु संघ के पालनहार होते थे और आवश्यक जीवनोपयोगी साधन उन्हें उपलब्ध कराते थे, अतः भिक्षुओं के लिये वे आदर के पात्र थे। दूसरी तरफ श्रमण संघ से श्रावकों का मार्ग निर्देशन और आत्मोत्कर्ष होता था, अतः श्रावक वर्ग के लिये वे आदरणीय व अनुकरणीय थे और इसके साथ ही उनसे अपने भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण के लिये आशीर्वाद भी प्राप्त करते थे। कहने का तात्पर्य है कि आपसी सहयोग और प्रेम से दोनों ही संघ एक-दूसरे का पूर्णरूपेण ध्यान रखते थे और सम्मान करते थे। इसी परस्पर दायित्व की भावना के कारण ही जैन व बौद्ध संघ सतत प्रवाहमान हैं। तुलनात्मक रूप से दोनों धर्मों में यह अन्तर द्रष्टव्य है कि जैन धर्म जहाँ से उपजा और बढ़ा वहाँ पर आज भी जीवित है, किन्तु बौद्ध संघ अपनी उत्पत्ति स्थल से एकदम ही समाप्त हो गया, जबकि जैन संघ आज भी पूर्ववत् है।

दोनों ही धर्म के भिक्षु संघों ने उपासकों के प्रति अपने-अपने कर्तव्यों का पूर्णरूपेण पालन किया। जैन संघ द्वारा श्रमणों को यह निर्देश दिया गया था कि वे गृहस्थों के ऊपर अपना अनावश्यक भार न डालें और एक ही घर से भिक्षा ग्रहण करने की अपेक्षा गाँव-गाँव और नगर-नगर घूम-घूमकर जितनी मात्रा में भिक्षा प्राप्त हो उतनी ही मात्रा में उसे समभाव से ग्रहण करें। भोजन को व्यर्थ फेंकने की अनुमति उन्हें नहीं थी।^७ जैन धर्म में तो भिक्षावृत्ति की तुलना भ्रमरवृत्ति से की गयी है। जिस प्रकार भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर घूम-घूम कर बिना उसे कष्ट पहुँचाए मधु ग्रहण करता है उसी प्रकार भिक्षु-भिक्षुणियों को भी आदेश है कि वे गृहस्थ को बिना कष्ट पहुँचाये बस आवश्यकता भर ही भोजन ग्रहण करें।^८ बौद्ध धर्म में भी भिक्षुओं को केवल भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न से ही अपना जीवन निर्वाह करना होता था, यद्यपि

निमन्त्रण एवं स्वयं उपनत दान को भी वे स्वीकार सकते थे।^{१०} इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही धर्मों में चतुर्विध संघ एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह आपसी सूझ-बूझ से ही करते थे। दोनों ही श्रमण संघों में भिक्षा, वस्त्र, पात्र तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिये श्रावक संघ पर निर्भरता ने भिक्षु-भिक्षुणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के आपसी सम्बन्ध को और भी सशक्त और मधुर बना दिया था। महावीर और तथागत के भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र, पात्र आदि प्रदान करना श्रावकों के लिये गौरव की बात थी। अतः वे संघ के किसी भी कार्य के लिये सदैव तत्पर रहते थे। इतना ही नहीं दोनों ही धर्मों के उपासकों ने श्रमण धर्म के प्रचार-प्रसार में भी अपना सक्रिय योगदान किया। जैन और बौद्ध धर्म के उपदेश और शिक्षाओं को श्रावक वर्ग ने ही जन-जन तक पहुँचाकर उसे लोक प्रसिद्ध बनाया। इन उपासकों में भी जो उपासक हर प्रकार से सम्पन्न होते थे वे धर्म के प्रचारार्थ-प्रसारार्थ लोगों को देश-विदेश भी भेजते थे। सिंहली बौद्ध ग्रन्थ 'महावंस' के अनुसार सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ विदेश भेजा था। ऐसा कहा जाता है कि जब लंका में संघमित्रा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये गयी तब तक वहाँ जैन धर्म भी प्रचलित हो चुका था।^{११} हालांकि, बौद्ध धर्म के पूर्व जैन धर्म के वहाँ प्रचार पर सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं। बुद्ध व महावीर के अनुयायियों में केवल उच्च वर्ग ने ही नहीं वरन् साधारण वर्ग ने भी अपनी-अपनी श्रद्धानुसार उनके सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अनेक मन्दिरों, स्तम्भों, शिलालेखों व आयागपट्टों का निर्माण करवाया। बौद्ध धर्म के भी समृद्ध उपासकों ने संघ की सुविधा के लिए विहार बनवाकर उसका दान दिया। मथुरा से प्राप्त एक शिलालेख^{१२} से ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य एक जैन मन्दिर के विद्यमान होने का प्रमाण प्राप्त होता है जिसे उत्तरदासक नामक एक श्रावक ने बनवाया था। इसी प्रकार एक शिलालेख^{१३} पर वासु नामक मणिकार द्वारा अर्हत मन्दिर सभा भवन (आयाग-सभा), प्रपा (प्याउ) और एक शिलापट्ट निर्मित किये जाने का उल्लेख है। इस आधार पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि जैन और बौद्ध संघों को लोकप्रिय बनाने में श्रावकों की भूमिका अत्यन्त सराहनीय रही है। इन चतुर्विध संघों में भिक्षु वर्ग और उपासक वर्ग का दायित्व समान था। क्योंकि इतने बड़े संघ को व्यवस्थापूर्वक चलाने के लिए केवल श्रमण वर्ग का ही नहीं, अपितु उपासक वर्ग का भी सहयोग अपेक्षित था।

चूँकि आचार्य का दोनों ही संघों में सर्वोपरि स्थान होता था, अतः आचार्य द्वारा किये गये निर्णय से चतुर्विध संघ सहमत होता था। जैन धर्म के प्रति उपासकों की प्रतिष्ठा बनीं रहे और उनके प्रति लोगों में अश्रद्धा का भाव उत्पन्न न हो इस दृष्टि से 'निशीथचूर्णि' में कहा गया है कि संघ की प्रतिष्ठा के रक्षण-निमित्त तन्त्र-मन्त्र,

चमत्कार आदि का भी प्रयोग किया जा सकता था। इसके पीछे आचार्यों का मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि संघ के प्रति लोगों की श्रद्धा बनी रहे, लोग सन्मार्ग की ओर उन्मुख हों।

इसके अतिरिक्त हम चतुर्विध संघ के आपसी सहयोग की व्याख्या इस आधार पर भी कर सकते हैं कि जैन और बौद्ध श्रमण संघों में आचार्य सर्वोपरि होते थे, किन्तु अगर उनसे भी कभी कोई त्रुटि हो जाती थी, तो पूरा चतुर्विध संघ उसका विरोध करता था। श्रावकों को भी यह अधिकार था कि वह श्रमण संघ के ऊँचे पद पर आसीन हुए व्यक्ति को पदच्युत कर सके। इस प्रवृत्ति का सम्मान करते हुए दोनों ही वर्गों को अपने-अपने दायित्वों और कर्तव्यों का पूर्णरूपेण निर्वाह करना होता था।

यहाँ भिक्षु संघ के साथ भिक्षुणी संघ पर भी चर्चा करना उचित होगा। श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ में श्रमणी का दूसरा स्थान है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर तथा इनकी परम्परा में आर्यिका संघ की व्यवस्थित आचार-पद्धति एवं उसका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। श्रमण संघ के उन्नयन में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यद्यपि भगवान महावीर के समय में भारतीय समाज में स्त्रियों को उतना सम्मान प्राप्त नहीं था, किन्तु महावीर ने स्त्रियों को समाज में साधना के क्षेत्र में सम्मानपूर्ण स्थान देने की पहल करके उनके आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि बौद्ध संघ की अपेक्षा जैन धर्म में भिक्षु-भिक्षुणी संघ की स्थापना साथ-साथ हुई है और ग्रन्थों में 'निगगन्थ वा निगगन्थी वा' कहकर दोनों के लिये समान नियमों की भी चर्चा की गयी है, फिर भी दोनों ही धर्मों में भिक्षुणियों का स्थान भिक्षुओं से निम्न ही है। संघ के नियमों के अनुसार तीन वर्ष का दीक्षित भिक्षु तीस वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी का उपाध्याय बन सकता है तथा पाँच वर्ष का दीक्षित भिक्षु साठ वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी का आचार्य बन सकता है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म ने नियमों में स्त्री-पुरुष को एक साथ आबद्ध कर समानता के स्तर पर ला दिया लेकिन पुरुष प्रधान समाज के प्रभाव से अपने को वंचित नहीं रख सका।

इसके अतिरिक्त भिक्षुणी चाहे कितनी ही योग्य व्यक्तियाँ न हो वह आचार्य व उपाध्याय के पदों पर आसीन नहीं हो सकती थी।^{१३} लेकिन वर्तमान में जैन धर्म के कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने क्रान्तिकारी कदम उठाते हुये संघ की बागडोर स्त्रियों को सौंपा है। वर्तमान में साध्वी श्री चन्दना जी एवं साध्वी श्री साधना जी जो अपने-अपने संघ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। बौद्ध धर्म में भी भिक्षुणी संघ भिक्षु संघ के अधीन रहता था। प्रथम अष्टगुरु नियमों के अनुसार सौ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी को नवदीक्षित भिक्षु को अभिवादन और उसके सम्मान में खड़ा होना पड़ता था। यदि कोई

भिक्षु किसी भिक्षुणी को सम्मान दे देता या अभिवादन कर लेता तो उसे दुक्कट दण्ड का भागी बनना पड़ता था।^{१४} इस विषय में अनेक नियम-उपनियम भी बनाए गए जिससे संघ अपवित्र व दूषित न हो। इसमें सन्देह नहीं कि भिक्षु संघ का कार्य बहुत बड़ा था, लेकिन बौद्ध साहित्य में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि भिक्षुणियों व उपासिकाओं ने भी संघ की उन्नति में पर्याप्त भूमिका निभाई है।^{१५}

इस प्रकार चतुर्विध संघ में श्रमणी संघ का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि आचार-विचार के पालन, धर्म के संचालन, कला और संस्कृति को दिशा प्रदान करने में चतुर्विध संघ में श्रमणी संघ की भूमिका महत्वपूर्ण स्थान रखती है। दोनों ही धर्मों में भिक्षु-भिक्षुणी के मध्य सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। दोनों धर्मों में चतुर्विध संघों में श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका के बीच जो मधुर सम्बन्ध थे उनका एक ही उद्देश्य था- एक ऐसे संघ का निर्माण जो किसी एक वर्ग या एक धर्म का नहीं, वरन् पूरे मानव समाज का हो। संघ के इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका एक-दूसरे के पूरक और सहयोगी बनें।

सन्दर्भ :

१. धम्मपद, (ब्राह्मणवग्ग), वासेट्ट-सुत्त (सुत्तनिपात)
२. उपाध्याय, भरत सिंह, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ०- २१५
३. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ०- १३७-१३८
४. वही, पृ०- १४०
५. महावग्ग, पृ०- ७३ ८२
६. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ०- १५३
७. दशवैकालिक, ५/२/१
८. वही १/२-४
९. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ०- १६५
१०. महावंस, १०/९५; ३३/४३
११. *A List of Brahmi Inscription*, Berlin, H. Luders, 3
12. Ibid, p. 102
१३. चुल्लवग्ग, पृ०- ३७८
१४. वही
१५. कौशम्बी, धर्मानन्द, भगवान बुद्ध : जीवन और दर्शन, , १५८

जैन ज्ञानमीमांसा : प्रमाणनयतत्त्वालोक के विशेष सन्दर्भ में

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय*

भारतीय परम्परा में ज्ञानमीमांसा का उद्भव एवं विकास तत्त्वचिन्तन की पद्धति के रूप में हुआ है। अतः भारतीय मनीषियों ने अलग से ज्ञान की परिभाषा देने का कोई प्रयास नहीं किया है। वस्तुतः भारतीय ज्ञानमीमांसा 'तत्त्वमीमांसा का साधन' है। अतएव प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय ने अपनी तत्त्वमीमांसीय गवेषणाओं के अनुरूप ही अपनी ज्ञानमीमांसीय विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं। तत्त्वमीमांसा से अवियोज्य होने के कारण भारतीय मनीषी ज्ञान का विश्लेषण तत्त्वमीमांसा से परे मात्र एक भाषायी तथ्य के रूप में नहीं करते, बल्कि ज्ञान को विषय के प्रकाशक के रूप में भी स्वीकार करते हैं। शब्दान्तर से ज्ञान के विषय में भारतीय दार्शनिकों की एक सामान्य धारणा यह है कि ज्ञान वह है जो विषय को प्रकाशित करता है। विषय की यह प्रकाशना ज्ञाता की चेतना में होती है।

भारतीय दर्शन में तत्त्वमीमांसा के साथ-साथ ज्ञानमीमांसा का भी निरूपण होता है। ज्ञानमीमांसा में अनेक पहलुओं पर मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र भी समावेशित रहता है। इसीलिए भारतीय दर्शन में ज्ञानमीमांसा को ज्ञान-विचार या प्रमाण-विचार भी कहा गया है।^१ पाश्चात्य परम्परा में ज्ञानमीमांसा पर विचार करते हुए कहा गया है कि ज्ञानमीमांसा दर्शन की वह शाखा है जिसमें ज्ञान के स्वरूप, उसके प्रामाण्य, उत्पत्ति, सीमा, सम्भाव्यता तथा ज्ञाता और क्षेत्र के सम्बन्ध आदि पर विचार किया जाता है।^२ यहाँ ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं - तर्कबुद्धिवाद (Rationalism), इन्द्रियानुभववाद (Empiricism), प्रतिनिधानवाद (Representationism), संशयवाद (Scepticism), समीक्षावाद (Criticism), अज्ञेयवाद (Agnosticism), प्रत्ययवाद (Idealism), वास्तववाद (Realism), व्यावहारिकतावाद (Pragmatism)।^३

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय, चाहे वह आगम युग में रचित हो अथवा दार्शनिक युग में, उस पर ज्ञानमीमांसा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। आगम युग दर्शन का आदिकाल है, उसमें भी ज्ञानमीमांसा का प्राधान्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। अनेक

* पूर्व शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, कला संकाय, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

आगम ग्रन्थों का प्रारम्भ ज्ञानसूत्र से होता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में ज्ञेय से पूर्व ज्ञान का निर्देश उपलब्ध होता है। विभिन्न नियुक्तियों एवं भाष्यों में उपोद्घात के रूप में ज्ञान की महत्ता का निरूपण है।

जैनाचार्य ज्ञान को विषय की चेतना के अर्थ में परिभाषित करते हैं। जैन मत के अनुसार ज्ञान अथवा चेतना जीव का गुण है। वह निसर्गतः अनन्त ज्ञानविशिष्ट है, परन्तु कर्मों के आवरण से उसका विशुद्ध चैतन्य रूप ढका रहता है, जो सम्यक्-चारित्र पालन से पुनः अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान है। आत्मा ज्ञाता है। वह ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को जानता है।^{१५} आचार्यो में कहा गया है - **जे आया से विज्ञाया, जे विज्ञाया से आया।**^{१६} अर्थात् जो आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है। ज्ञान और आत्मा में गुण और गुणी का सम्बन्ध है। गुण, गुणी से सर्वथा अभिन्न नहीं होता और सर्वथा भिन्न भी नहीं होता। आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है। इस विवक्षा से वह आत्मा से कथंचित् भिन्न है।^{१७} ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है।^{१८}

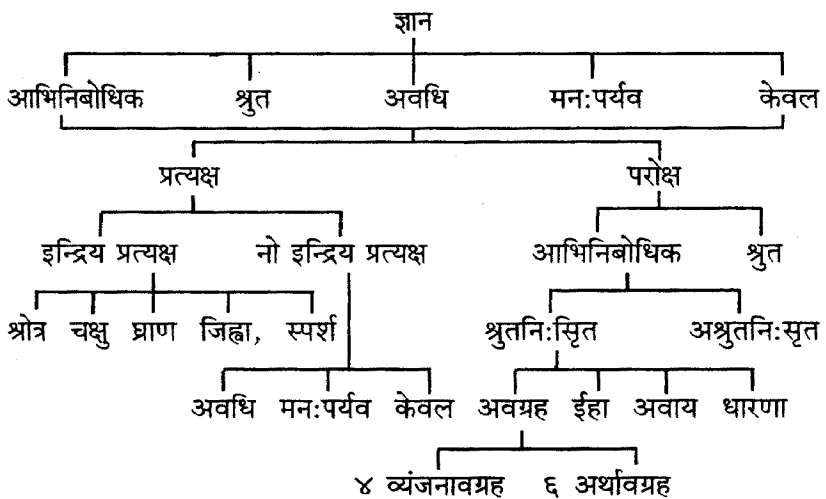
ज्ञान आत्मा का स्वरूप धर्म है। जो जानता है वह आत्मा है।^{१९} आत्म स्वरूप होने के कारण ही ज्ञान स्व और पर-दोनों को जानने में समर्थ होता है।^{२०} 'आवश्यकचूर्णि' में ज्ञान का अर्थ संवेदन, अधिगम, वेदना, भाव आदि बतलाया गया है।^{२१} व्युत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान की व्याख्या कर्तृ, करण, भाव और अधिकरण साधन के रूप में की जा सकती है। फलतः आत्मा की वह परिणति जो ज्ञाता है, ज्ञान का साधन अथवा आधार है अथवा ज्ञप्ति है, वह ज्ञान है।^{२२} इसी प्रकार 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है कि जो जानता है वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है अथवा जानना मात्र ज्ञान है।^{२३} 'तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी' की टीका में ज्ञान का अर्थ वस्तु के स्वरूप का अवधारण करना बतलाया गया है।^{२४} अर्थात् जिसके माध्यम से ज्ञाता को यह बोध हो सके कि उसके विषय का स्वरूप 'यह है' वह परिणति ज्ञान है। ज्ञेय के स्वरूप का निश्चय करने के लिए तदितर वस्तुओं का - पररूपों का अपनोद भी अनिवार्य है। अर्थात् जब कोई ज्ञाता यह जानता है कि अमुक वस्तु घट है, इसका अर्थ ही है कि वह जानता है कि विवक्षित वस्तु पट आदि नहीं है। स्वामी पूज्यपाद के अनुसार जीव आदि पदार्थ जिस रूप में व्यवस्थित हैं, उन्हें उसी प्रकार जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान की अवस्था में ज्ञाता को अनध्यवसाय, संशय और विपर्यय नहीं होता है। भट्ट अकलंक के अनुसार ज्ञेय का यथार्थ प्रकाशन ज्ञान है, अर्थात् चेतना की वह शक्ति जिससे जीव आदि का तत्त्वतः प्रकाशन हो वह ज्ञान है।^{२५} इस प्रकार वे सभी संवेदनाएँ जिनके उद्गम एवं स्वरूप को ज्ञाता जानता है तथा जिनमें स्वरूप के ग्रहण के साथ पररूप के परित्याग या विवेक की क्षमता है वह ज्ञान है। 'राजवार्तिक' में

एवंभूतनय की दृष्टि से ज्ञान को परिभाषित किया गया है। कहा गया है कि ज्ञान-क्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान स्वभावी है।^{१५} यहां प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि आत्मा ज्ञान स्वभावी है अर्थात् आत्मा और ज्ञान एक है तो फिर आत्मा अपने ज्ञान को कैसे जान सकती है? क्या उसके लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता होती है? यदि किसी अन्य ज्ञान की सत्ता स्वीकार की जाती है तो वहाँ अनवस्था दोष होता है। इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान स्वयं को जानता हुआ ही दूसरे को भी जानता है। वह दीपक की भाँति स्व-पर प्रकाशक है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में स्पष्ट वर्णन आया है कि 'स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण है।'^{१६} यहाँ 'स्व' का अर्थ ज्ञान है और 'पर' का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ। तात्पर्य यह है कि वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो अपने आपको भी जाने और दूसरे पदार्थों को भी जाने और वह भी यथार्थ तथा निश्चित रूप से। अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है।^{१७} ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य वस्तु को स्वीकार करने तथा त्याग करने में प्रमाण समर्थ होता है, अतः ज्ञान ही प्रमाण है।^{१८} उपादेय क्या है और हेय क्या है, इसे बतलाना ही प्रमाण की उपयोगिता है। प्रमाण की यह उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जब प्रमाण को ज्ञान रूप माना जाय। यदि प्रमाण ज्ञान रूप न होकर अज्ञान रूप होगा तो वह हेय-उपादेय का विवेक नहीं करा पाएगा। अतः ज्ञानरूप सन्निकर्ष ही प्रमाण है। प्रमेय पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में जानना ही ज्ञान की प्रमाणता है।^{१९} जो वस्तु जैसी है उसे अन्य रूप में जानना अप्रमाणता है। प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को वास्तविक ही जानता है।

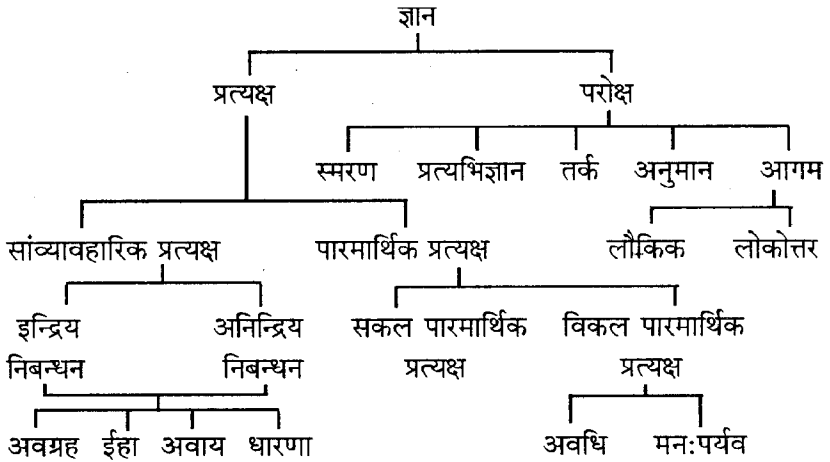
ज्ञान के दो मौलिक रूप हैं- प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष।^{२०} प्रत्यक्ष में हम इन्द्रिय उपलब्धों और मानसिक अवस्थाओं को देख सकते हैं। अप्रत्यक्ष ज्ञान में अनुमान का अंश होता है और यह क्रिया स्मृति की सहायता से सम्पन्न होती है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का यह विश्लेषण अन्य दर्शनों में प्राप्त होता है, जैन दर्शन में नहीं। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष की विवेचना अलग रूप में की गई है। जैन दर्शन के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष तथा जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का यह विश्लेषण जैन दर्शन में किया गया उत्तरवर्ती विश्लेषण है, क्योंकि आगम काल तक जैन साहित्य में ज्ञानमीमांसा की ही प्रधानता रही।^{२१} आगमों में ज्ञान-सम्बन्धी जो मान्यताएं मिलती हैं वे बहुत प्राचीन हैं। पंचज्ञान की चर्चा आगम साहित्य में प्राप्त होती है।^{२२} आगमों में प्राप्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान के पाँच प्रकार पूर्ववर्ती हैं। पञ्चज्ञान की चर्चा 'राजप्रश्नीय' में भी हुई है। यहाँ आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान की चर्चा मिलती है।^{२३} 'राजप्रश्नीय' में कहा गया है- इन

पाँचों ज्ञानों में से आभिनिबोधिकज्ञान मुझे है, श्रुतज्ञान मुझे है, अवधिज्ञान मुझे है, मनःपर्यवज्ञान भी मुझे प्राप्त है, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान भगवन्त अरिहन्तों को ही प्राप्त होता है।^{२४} 'स्थानांग'^{२५} और 'भगवती'^{२६} में भी ज्ञान के पाँच प्रकारों का वर्णन है। उमास्वाति ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' में इन्हीं पाँच ज्ञानों का उल्लेख किया है।^{२७} वादिदेवसूरि 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में ज्ञान के अवयव को विशिष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ आभिनिबोधिकज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा गया है जिसके इन्द्रिय निबन्धन एवं अनिन्द्रिय निबन्धन नाम से दो रूप हैं।^{२८} श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत है लेकिन श्रुतज्ञान नाम का उल्लेख 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में नहीं है। परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत आगम प्रमाण को रखा गया है।^{२९} अवधि, मनःपर्यव एवं केवलज्ञान का विवेचन पारमार्थिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत किया गया है।^{३०} अवधि एवं मनःपर्यव विकल प्रत्यक्ष हैं जबकि केवलज्ञान की विवेचना सकल प्रत्यक्ष के अन्तर्गत की गई है।^{३१} 'भगवती'^{३२} के अनुसार ज्ञान के पाँच भेद हैं- आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, केवल। पुनः आभिनिबोधिक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा- ये चार भेद किये गये हैं।

'राजप्रश्नीय' एवं 'भगवती' में अवग्रह, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव के दो-दो भेद बताते हुए केवलज्ञान सहित वर्णन 'नन्दीसूत्र' के अनुसार जानने का निर्देश दिया गया है। जैसा कि पं० दलसुखभाई मालवणिया ने भी लिखा है कि सूत्रकार ने आगे का वर्णन 'राजप्रश्नीय' से पूर्ण कर लेने की सूचना दी है और 'राजप्रश्नीय' के सूत्र सं० १६५ में निर्देश है कि शेष ज्ञान की पूर्ति 'नन्दीसूत्र' के अनुसार जाने।^{३४} 'नन्दीसूत्र'^{३५} के अनुसार ज्ञान का विभाजन निम्नलिखित है-



प्रमाणनयतत्त्वालोक में अलग से ज्ञान की चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। ज्ञान की चर्चा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही की गई है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' के अनुसार ज्ञान को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है-



उपलब्ध आगम ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'भगवती' में उपलब्ध ज्ञान चर्चा उसके विकास का प्रथम चरण है। 'नन्दी' में ज्ञान चर्चा को विस्तार से देखा जा सकता है। फिर 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में ज्ञान विवेचना का एक अलग रूप दृष्टिगत होता है। परन्तु हर दृष्टि से ज्ञान के पाँच ही मुख्य प्रकार प्राप्त होते हैं। विकास-क्रम की दृष्टि से देवर्धिगणि के काल तक ज्ञान की पृथक्-पृथक् भूमिकाएँ बन गई थीं, क्योंकि 'भगवती' में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाग प्राप्त नहीं होता है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष का विभाग 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

मतिज्ञान- आगमों में मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहा गया है। सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। इसके सम्बन्ध में उमास्वाति ने कहा है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से उत्पन्न होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।^{३६} उमास्वाति ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, और अभिनिबोध को एकार्थक बतलाया है।^{३७} 'विशेषावश्यकभाष्य' में मतिज्ञान के लिए ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।^{३८} इन शब्दों की एकार्थबोधकता के सम्बन्ध में आशंका होती है, क्योंकि इनके विषय भिन्न-भिन्न हैं। निमित्त भी इनका एक नहीं होता है, फिर भी इनको पर्यायवाची मानना शंका को उत्पन्न करता है। पं० सुखलाल संघवी कहते हैं कि विषय-भेद और कुछ निमित्त-भेद होने पर भी मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ज्ञान का अन्तरङ्ग कारण,

जो मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, वही अर्थ सामान्य रूप से यहाँ विवक्षित है। इसी अभिप्राय से मति आदि शब्दों को पर्यायवाची कहा गया है।^{३९} अकलङ्क ने सम्यग्ज्ञान के दो भेद किए हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो प्रकार हैं- मुख्य और सांव्यवहारिक। मुख्य को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक को इन्द्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष नाम दिया गया है।^{४०} इन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार भेद किए गए हैं - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध में विभक्त किया है। मतिज्ञान को 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा गया है। इन्द्रियनिबन्धन और अनिन्द्रियनिबन्धन के नाम से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं।^{४१} मतिज्ञान के समान ही यह पंचज्ञानेन्द्रियों एवं मन से उत्पन्न होता है। दोनों के ही अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा नाम से चार भेद हैं।^{४२}

अवग्रह - अवग्रह ज्ञान की अव्यक्तावस्था है। उमास्वाति, जिनभद्र, सिद्धसेन एवं यशोविजय के अनुसार अवग्रह में निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता है।^{४३} पूज्यपाद देवन्दी, अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्र का मानना है कि अवग्रह में निश्चयात्मक ज्ञान होता है। अवग्रह को परिभाषित करते हुए उमास्वाति का कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा अपने विषयों का आलोचनपूर्वक अव्यक्त अवधारण अवग्रह है।^{४४} 'नन्दीसूत्र' में व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह के रूप में अवग्रह के दो भेद किए गए हैं।^{४५} पदार्थ का ज्ञान होने के पूर्व जो उसका आभास होता है वह व्यञ्जनावग्रह है और अर्थावग्रह में पदार्थ का ग्रहण होता है और आभास होता है कि यह कुछ है। वादिदेवसूरि का कहना है कि विषय (पदार्थ) और विषयी (चक्षु आदि) का यथोचित देश में सम्बन्ध होने पर सत्ता मात्र को जानने वाला दर्शन उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर सबसे पहले मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु को जानने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है।^{४६} आचार्य हेमचन्द्र भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय एवं अर्थ का योग होने पर दर्शन उत्पन्न होता है, दर्शन के अनन्तर जो अर्थ का ग्रहण है वह अवग्रह है।

ईहा - अवग्रह द्वारा जाने गए सामान्य विषय का विशेष रूप से निश्चय करने के लिए होनेवाली विचारणा ईहा है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में कहा गया है कि अवगृहीत अर्थ के विषय में विशेष जानने की इच्छा ईहा है।^{४७} यथा निद्रा में सोए हुए व्यक्ति को लगातार आवाज लगाए जाने पर उसका आवाज से सम्पर्क होने पर- 'कोई आवाज दे रहा है' इस रूप में ग्रहण तो अवग्रह है, किन्तु उसके अनन्तर यह आवाज किसकी है? यह निश्चित हो जाना ईहा है। ईहा ज्ञान संशयपूर्वक होता है, परन्तु संशय रूप नहीं है। इसिलए यह संशय से भिन्न है।^{४८}

अवाय - ईहा द्वारा ग्रहण किए हुए विषय में विशेष का निश्चय हो जाना अवाय है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में अवाय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।'^{४९} अर्थात् इहित अर्थ विशेष का निर्णय अवाय है, यथा- शब्द सुनकर यह ईहा हुई कि ये शब्द पुरुष के होने चाहिए। अवाय में यह निर्णय हो जाता है कि ग्रह शब्द पुरुष का ही है। अवाय के लिए कहीं-कहीं अपाय शब्द का भी प्रयोग होता है। इसे सम्भावना, विचारणा, जिज्ञासा आदि भी कहते हैं।

धारणा- अवाय द्वारा ग्रहण विषय का दृढ़ हो जाना धारणा है। अकलङ्क एवं विद्यानन्द स्मृति के हेतु को धारणा मानते हैं।^{५०} किन्तु वादिदेवसूरि ने धारणा को स्मृति का साक्षात् हेतु न मानकर उसे पारम्परिक हेतु माना है।^{५१} और कहा है कि अवाय ज्ञान जब दृढ़तम अवस्था को धारण कर लेता है, तो उसे धारणा कहते हैं।^{५२}

अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष में आवश्यक क्रम है, किन्तु शीघ्रतापूर्वक होने से क्रम का भान नहीं होता। जिस प्रकार कमल के सैकड़ों पत्तों को एक साथ छेदे जाने पर यह ज्ञान नहीं होता कि कौन-सा पत्ता कब छेदा गया, किन्तु उनका छेदन-क्रम से ही होता है।^{५३} इसी प्रकार अवग्रह आदि भी क्रम से ही होते हैं, किन्तु शीघ्र सम्पन्न होने के कारण इनके क्रम का बोध नहीं रहता है।

श्रुतज्ञान- श्रुतज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो श्रुत अर्थात् शास्त्र-निबद्ध है। आप्तपुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में श्रुतज्ञान को आगमज्ञान के नाम से विश्लेषित किया गया है। आप्तपुरुष के वचन आदि से आविर्भूत-अर्थज्ञान को आगम कहा गया है।^{५४} उपचार से आप्तपुरुष के वचनों को भी आगम माना गया है।^{५५} क्योंकि उन वचनों से ही अर्थज्ञान प्रकट होता है। आप्तपुरुष को प्रतिपादित करते हुए वादिदेवसूरि ने कहा है कि जो अभिधेय वस्तु को यथावस्थित रूप से जानता हो तथा जैसा जानता हो वैसा कहता हो, वह आप्त है।^{५६} आप्तपुरुष का वचन अविस्वादी होता है।^{५७} उसमें धोखा या वंचना नहीं होती है। आप्तपुरुष दो प्रकार के होते हैं- लौकिक एवं लोकोत्तर।^{५८} माता-पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हो सकते हैं तथा तीर्थकर अथवा केवलज्ञानी पुरुष लोकोत्तर आप्त कहे जाते हैं।^{५९} तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित वाणी ही आगम है। आगम शब्द के स्थान पर अकलङ्क के ग्रन्थों में 'श्रुत' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। श्रुतज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम किसी से भी हो सकती है। सामान्यतया श्रुतज्ञान शब्दयुक्त ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें आगम प्रमाण भी आता है नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि श्रुतज्ञान के ही फलित हैं। परन्तु वादिदेवसूरि के ग्रन्थों में श्रुतज्ञान के स्थान पर आगमज्ञान (प्रमाण) की ही चर्चा मिलती है।

अवधिज्ञान- जब मनुष्य के कर्म अंशतः नष्ट हो जाते हैं तब उसमें एक ऐसी शक्ति का संचार होता है जो उसे अत्यन्त दूरस्थ एवं सूक्ष्म पदार्थों का भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त करा देता है, परन्तु उसका यह ज्ञान सीमित वस्तुओं से ही सम्बन्धित रहता है। ऐसा ज्ञान 'अवधिज्ञान' कहलाता है।

'अवधि' शब्द प्रायः समय की सीमा का सूचक होता है, परन्तु जैन दर्शन में यह ज्ञान की सीमा या मर्यादा को बताता है जिसके अन्तर्गत न केवल समय की सीमा आती है, बल्कि अन्य मर्यादाएं भी समाविष्ट देखी जाती हैं। उस ज्ञान की सीमा प्रधान तौर पर उसके विषय से स्पष्ट होती है। उमास्वाति ने कहा है- 'रूपिष्ववधेः'^{६०} अर्थात् अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्वपर्यायरहित केवल रूपी (मूर्त) द्रव्यों में होती है।^{६१} रूपी पदार्थ वे हैं जिनमें रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श होते हैं। अवधिज्ञान की गति अरूपी द्रव्यों तक नहीं है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में अवधिज्ञान को विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा गया है। अवधिज्ञान को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह ज्ञान इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना आत्मा में अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होता है तथा इसके द्वारा रूपी पदार्थों की विभिन्न पर्यायों का ज्ञान होता है।^{६२}

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय, ये दो भेद हैं। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है, वह भवप्रत्यय है। जिसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम आदि अनुष्ठान अपेक्षित नहीं हैं उस जन्मसिद्ध अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कहते हैं। यह सहज ढंग से बिना किसी प्रयास के ही प्राप्त हो जाता है। देवों तथा नारकों को जन्म ग्रहण करते ही अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है, किन्तु मनुष्यादि को अवधिज्ञान के लिए व्रत, नियमादि का पालन करना पड़ता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अवधिज्ञान की प्राप्ति अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर होती है तो फिर देव और नारकों को बिना अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षय के ज्ञान की प्राप्ति कैसे होता है? डॉ० मोहनलाल मेहता इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि- क्षयोपशम तो सभी के लिए आवश्यक है। अन्तर साधन में है। जो जीव केवल जन्ममात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है। जिन्हें इसके लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं उनका अवधिज्ञान गुणप्रत्यय है।^{६३} अर्थात् जन्म लेते ही देवों और नारकों के अवधिज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम हो जाता है। गुणप्रत्यय प्रयत्न पर आधारित अवधिज्ञान है। प्रयत्न करके जो जिस हद तक ज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम कर पाता है उसे उसी के अनुकूल ज्ञान प्राप्त होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छः प्रकार हैं-

१. अनुगामी- उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर भी जो अवधिज्ञान नष्ट नहीं होता उसे अनुगामी कहते हैं। यह ज्ञान ज्ञाता के साथ-साथ अनुगमन करता है। **२. अननुगामी-** उत्पत्ति स्थान का त्याग कर देने पर जो ज्ञान नष्ट हो जाता है वह अननुगामी होता है। प्रायः देखा जाता है कि किसी-किसी भविष्यवक्ता की भविष्यवाणी अपने निश्चित स्थान पर ही सटीक हो पाती है, अन्यत्र नहीं। **३. वर्धमान-** जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के बाद अनुकूलता पाकर बढ़ता जाता है उसे वर्धमान कहते हैं। **४. हीयमान-** जो ज्ञान उत्पत्तिकाल में अत्यधिक प्रकाशमान हो, किन्तु बाद में क्रमशः घटता जाय वह हीयमान अवधिमान है। **५. अवस्थित-** जो अवधिज्ञान न घटता है और न बढ़ता है, उसे अवस्थित कहते हैं। यह केवलज्ञान की प्राप्ति तक अपने अपरिवर्तनीय अवस्था में रहता है। **६. अनवस्थित-** जो कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी प्रकट और तिरोहित होता है, उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान के उपर्युक्त भेद गुण की दृष्टि से हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से भी अवधिज्ञान के अनेक विकल्प हैं। द्रव्य की दृष्टि से परमाणु, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि विकल्प; क्षेत्र की दृष्टि से देशावधि, परमावधि और सर्वावधि; काल की दृष्टि से अवलिका का असंख्येय भाग आदि विशिष्ट कालखण्ड। इसी प्रकार भाव की दृष्टि से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के एक गुणात्मक, द्विगुणात्मक आदि विकल्प।^{६४}

मनःपर्यवज्ञान- जीव को उसके सम्यक्-चारित्र एवं साधना के कारण एक ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वह अन्य व्यक्तियों के अन्तःकरण में वर्तमान सीमित वस्तु सम्बन्धी भावों का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। ज्ञान की इस अवस्था को मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। मनःपर्यव ज्ञान के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों में दो मत हैं।^{६५} प्रथम मत के अनुसार मनःपर्यवज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिन्त्यमान अर्थों को जाना जाता है। इसकी विवेचना 'नन्दीसूत्र'^{६६} एवं 'तत्त्वार्थभाष्य'^{६७} में मिलती है। द्वितीय मत 'विशेषावश्यकभाष्य',^{६८} 'नन्दीचूर्णि'^{६९} आदि ग्रन्थों पर अवलम्बित है, जिसके अनुसार मनःपर्यवज्ञान द्वारा मात्र दूसरे के मन की पर्यायों को जाना जाता है तथा उसमें चिन्त्यमान पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा होता है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में मनःपर्यवज्ञान को विवेचित करते हुए कहा गया है कि 'जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि तथा मनःपर्यव ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं।'^{७०} वस्तुतः मनःपर्यवज्ञानी दूसरे के मन की पर्यायों को ही जानता है, उसके मन के चिन्त्यमान पदार्थों को तभी जाना जा सकता है जब मन की पर्यायों को जान लिया गया हो। संयम की विशुद्धता मनःपर्यवज्ञान का बहिरंग कारण है और मनःपर्यव ज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है।

मनःपर्यव ज्ञान के दो भेद हैं- ऋजुमति तथा विपुलमति।^{७१} ज्ञान के विषय को सामान्य रूप से ग्रहण करनेवाला ऋजुमति कहलाता है तथा जो विषय को विशेष रूप से ग्रहण करता है उसे विपुलमति कहते हैं। इसमें ऋजुमति से विपुलमति ज्ञान अधिक विशुद्ध है।^{७२} दोनों प्रकार का मनःपर्यवज्ञान संयत एवं अप्रमत्त मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्राणी को नहीं होता।

केवलज्ञान- जब ज्ञान के बाधक सभी कर्म आत्मा से पूर्णतया दूर हो जाते हैं, तब अनन्त ज्ञान प्राप्त होता है। इसे केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान की विशुद्धतम अवस्था है। 'विशेषावश्यकभाष्य'^{७३} में कहा गया है कि केवलज्ञान शुद्ध, सकल, असाधारण तथा अनन्त होता है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान स्वतः समाप्त हो जाते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया है कि मोह के क्षय से ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है।^{७४} इसकी प्राप्ति के पश्चात् आत्मा पर किसी भी प्रकार का ज्ञानावरण शेष नहीं रहता है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा गया है।^{७५} केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति को कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, वह सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ को विश्व के समस्त पदार्थों के तीनों कालों की समस्त पर्यायों का ज्ञान स्पष्ट रूपेण होता रहता है। सर्वज्ञ का शाब्दिक अर्थ ही होता है सब-कुछ जानने वाला। जिसका ज्ञान पदार्थ विशेष तक ही सीमित नहीं होता, अपितु जिसे समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है, वही सर्वज्ञ है।^{७६} सर्वज्ञ भूत, वर्तमान एवं भविष्य के समस्त द्रव्यों एवं पर्यायों को जानता है। इस प्रकार केवलज्ञानी सर्वज्ञ और निर्दोष होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा अत्यन्त समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है। जैन दर्शन में ज्ञानमीमांसा का जितना विशद् विवेचन मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य भारतीय दर्शनों में जहाँ स्वतंत्र रूप से ज्ञानमीमांसा का वर्णन प्राप्त नहीं होता है, वहीं जैन दर्शन में विस्तृत एवं विलक्षण ज्ञानमीमांसा की उपलब्धि होती है जो जैन दर्शन की विशिष्टता कही जा सकती है। जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ ज्ञानमीमांसा को प्रमाणमीमांसा से अलग रखकर स्वतंत्र रूप से विवेचित किया गया है। लेकिन वादिदेवसूरि विरचित 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में प्रमाण के साथ-साथ ज्ञानमीमांसा की विवेचना भी हुई है जिसका सविस्तार वर्णन उनकी स्वोपज्ञ भाष्य 'स्याद्वादरत्नाकर' में मिलता है।

सन्दर्भ :

१. अग्रवाल, डॉ० गीतारानी, भारतीय ज्ञानमीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी १९९९, पृ०-६.

७२ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

2. Mahala, Dr. N. Singh, *Dictionary of Western Philosophy*, Jain Prakashan Mandir, 2002.
३. वही, पृ० १७९.
४. मुनि नथमल, **जैन न्याय का विकास**, जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र, जयपुर, पृ०- ८.
५. आचार्य तुलसी, **आयारो**, ५/१०४.
६. ज्ञानाद् भिन्नो न चा भिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन। ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोयमात्मेति कीर्तितः॥ **स्वरूपसम्बोधन ३**.
७. णाणे पुण णियमं आया। **भगवतीसूत्र**, १२/१०.
८. साध्वी श्रुतयशा, **ज्ञानमीमांसा**, जैन विश्व भारती, लाडनूँ १९९९, पृ०- २८.
९. देखिए, **श्रमण**, जनवरी-जून २००० 'जैन ज्ञानमीमांसा-एक अवलोकन', डॉ० विजय कुमार, पृ०- ९.
१०. **आवश्यकचूर्णि**, जिनदासगणि, रतलाम १९२९ पृ०- ६.
११. **नन्दीचूर्णि**, पृ०- १३.
१२. जानाति ज्ञायतेऽनेने ज्ञप्तिमात्रं का ज्ञानम्। **सर्वार्थसिद्धि**, १/१/६/१
१३. **तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका**, श्री सिद्धसेनगणि, पृ०-६९।
१४. **तत्त्वार्थराजवार्तिक**, १/१/२
१५. **नियमसार** (संस्कृत टीका), गाथा १५९
१६. स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्। **प्रमाणनयतत्त्वालोक**, १/२
१७. अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कार क्षमंहि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम्। वही १/७,
१८. **प्रमाणनयतत्त्वालोक**, स० श्री महायशाश्री म० सा०, ऊँकारसूरि ज्ञान मंदिर ग्रन्थावली, सूरत २००३, पृ०-१२।
१९. ज्ञानस्य प्रमेयात्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्। तदितरत्त्वप्रामाण्यम्। **प्रमाणनयतत्त्वालोक**, १/१८।
२०. देखिए, **श्रमण**, जनवरी-जून २०००, जैन ज्ञानमीमांसा-एक अवलोकन, डॉ० विजय कुमार, पृ०- १०

२१. वही, पृ०- १०
२२. मेहता, डॉ० मोहनलाल, जैन धर्म-दर्शन, पृ०- २४७
२३. राजप्रश्नीयसूत्र, सम्पा०-युवाचार्य मधुकर मुनि, ग्रन्थांक १५, पृ०- २४१
२४. वही, पृ०- २४१
२५. स्थानांगसूत्र, सम्पा०-युवाचार्य मधुकर मुनि, ५/३/२१८
२६. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, सम्पा०- मधुकर मुनि, ८/२/२२
२७. मतिश्रुताऽवधिमनः पर्यायकेवलानि ज्ञानम्। तत्त्वार्थसूत्र, विवे० पं० सुखलाल संघवी, १/९
२८. प्रमाणनयतत्त्वालोक, २/४-५
२९. वही, ३/२
३०. वही, २/४, २/१९-२०
३१. वही २/१८, १९-२७
३२. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ८/२/२२-२६
३३. राजप्रश्नीयसूत्र, पृ०-२४१
३४. मालवणिया, दलसुखभाई, आगमयुग का जैन दर्शन, पृ० १३०।
३५. नन्दीसूत्र, सम्पा० युवाचार्य मधुकर मुनि, पृ० २४-३०
३६. तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम्। तत्त्वार्थसूत्र, १/१४
३७. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थसूत्र, १/१३
३८. विशेषावश्यक भाष्य, ३९६
३९. तत्त्वार्थसूत्र, पृ०- १४
४०. लघीयस्त्रय, ३/४
४१. तत्राद्य द्विविधमिन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियनिबन्धनं च। प्रमाणनयतत्त्वालोक, २/५
४२. एतद् द्वितयमवग्रहेहावायधारणाभेदादेकशशयतुर्विकल्पकम्। वही, २/६
४३. जैन, डॉ० धर्मचन्द्र, बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा, पृ०- १४०
४४. तत्राव्यक्तं यथास्वं इन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, १/१५

७४ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

४५. नन्दीसूत्र, २७

४६. प्रमाणनयतत्त्वालोक, २/७

४७. अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा। वही, २/८

४८. संशयपूर्वकत्वादीहायाः संशयाद् भेदः। वही, २/११

४९. वही, २/९

५०. धारणास्मृति हेतुः। लघीयसूत्रय, ६; एवं स्मृति हेतुः स धारणा।
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/१५/४,

५१. स्याद्वादरत्नाकार, वादिदेवसूरि, सूत्र २/१० की व्याख्या, पृ०- ३४९

५२. स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा। प्रमाणनयतत्त्वालोक, २/१०

५३. क्वचित् क्रमस्यानुपलक्षणमेषामाशूत्पादात् उत्पलपत्रशतव्यतिभेदक्रमवत्। वही,
२/१७

५४. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। वही, ४/१

५५. उपचारादप्तवचनं च। वही, ४/२

५६. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधते स आप्तः। वही
४/४

५७. तस्य हि वचनमविसंवादि भवति। वही, ४/५

५८. स च द्वेषा-लौकिको लोकोत्तरश्च। वही ४/६

५९. लौकिको जनकादिः लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः। वही, ४/७

६०. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक, सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १/
२८,

६१. वही, पृ०- ३१

६२. अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम्।
प्रमाणनयतत्त्वालोक २-२१

६३. मेहता, डॉ० मोहनलाल, जैन धर्म दर्शन, पृ०- १७८

६४. नन्दीचूर्णि, पृ०- २०

६५. जैन, डॉ० धर्मचन्द्र, बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा, पृ०-
१३६

६६. नन्दीसूत्र, ६५
६७. तत्त्वार्थभाष्य, १/ २९,
६८. विशेषावश्यकभाष्य, ८१४,
६९. नन्दीचूर्णि, पृ०- २४
७०. संयमविशुद्धिनिबन्धनाद, विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं, मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनः
पर्याय ज्ञानम्॥ प्रमाणनयतत्त्वालोक, २/२२,
७१. ऋजुविपुलमती मनः पर्यायः। तत्त्वार्थसूत्र, १/२४
७२. विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। वही, १/२५
७३. केवल मगं सुद्धं सकलमसाहरणं अणतं चं विशेषावश्यकभाष्य, ८४
७४. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। तत्त्वार्थसूत्र, १०/१
७५. प्रमाणनयतत्त्वालोक, २/२३
७६. मेहता, डा० मोहनलाल, जैन धर्म-दर्शन, पृ०- २८५



भारतीय तर्कशास्त्र को जैन दर्शन का योगदान

डा० राकेश कुमार सिंह*

तथ्यों का तार्किक विश्लेषण और वैज्ञानिक व्याख्या आधुनिक युग की अनिवार्य आवश्यकता है। भारतीय समाज के लिए पाश्चात्य तर्क - व्यवस्था अत्यन्त शुष्क और दुर्गम है। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय समाज के लिए उसके अपने परम्परागत तर्कशास्त्र को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत कर सुगम और सुव्यवस्थित बनाया जाय। वैज्ञानिक तर्कशास्त्र संशयवाद, भाववाद पर आधारित होता है।^१ ऐसा तर्कशास्त्र भारतीय दर्शन में भी पाया जाता है, किन्तु कतिपय कारणों से यह अध्यात्मवाद में विलीन हो गया है। इसलिए आवश्यकता है कि भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास की समीक्षा करने की। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु जैन तर्कमीमांसा को हमने अपना विषय बनाया है।

भारतीय दर्शन का मध्यकाल जैन तर्कशास्त्र के विकास का काल कहा जा सकता है, क्योंकि उस काल में बहुत से ऐसे धुरन्धर तर्कशास्त्री हुए जिन्होंने जैन तर्क-व्यवस्था को एक नया रूप प्रदान किया, जिनमें समंतभद्र, अकलंकदेव, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, माणिक्यनंदी, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, हरिभद्रसूरि, सिद्धर्षिगणि, अभयदेवसूरि, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं।

जैन धर्मग्रन्थों- अंग और उपांगों में सूत्र रूप में तर्कशास्त्र के तत्त्व पाये जाते हैं। 'भगवतीसूत्र' जो अंग है तथा 'प्रज्ञापनासूत्र' जो उपांग है, में नय की चर्चा पायी जाती है। 'स्थानांगसूत्र' और 'भगवतीसूत्र' में वैध ज्ञान का वर्गीकरण पाया जाता है। ग्रन्थों में हेतु शब्द बार-बार आया है। यहाँ हेतु शब्द का अर्थ कारण, निमित्त, अनुमान वाक्य, अनुमान का साधन आदि है। सामान्य रूप से साध्य की सिद्धि करने को हेतु कहते हैं। 'स्थानांगसूत्र' में तीन दृष्टियों से हेतु के प्रकार बताये गये हैं-

१. वादी-प्रतिवादी के बीच होने वाले शास्त्रार्थ की दृष्टि से। २. अनुमान प्रमाण के अंग के रूप में तथा ३. विधि और निषेध रूप में।^२

* रामराज्य मोड़, आन्दर ढाला, सीवान (बिहार)

प्रथम दृष्टि

यापक हेतु- जिसे प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके ऐसा समय व्यतीत करने वाला विशेषण बहुल हेतु। **स्थापक हेतु-** साध्य को शीघ्र स्थापित करने वाली व्याप्ति से युक्त हेतु। **व्यंसक हेतु-** प्रतिवादी को छल में डालने वाला हेतु। **लूषक हेतु-** व्यंसक हेतु के द्वारा प्राप्त आपत्ति को दूर करने वाला हेतु।

द्वितीय दृष्टि

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. औपम्य (उपमान) और ४. आगमा यहाँ प्रत्यक्ष आदि जो चार भेद कहे गये हैं, वे मूलतः प्रमाण के भेद हैं और हेतु उन चारों में से अनुमान प्रमाण का अंग है, लेकिन वस्तु का यथार्थ बोध कराने के कारण शेष तीन प्रमाणों को भी हेतु रूप में यहाँ कह दिया गया है।

तृतीय दृष्टि

यह दृष्टि ही जैन दर्शन के हार्द को प्रस्तुत करती है। इस दृष्टि के अनुसार हेतु के वास्तव में दो ही भेद हैं- विधि रूप और निषेध रूप। विधि रूप को उपलब्धि हेतु कहते हैं और निषेध रूप को अनुपलब्धि हेतु। इन दोनों के भी अविरोद्ध और विरोद्ध की अपेक्षा से दो-दो भेद होते हैं, यथा- **विधि साधक-** उपलब्धि हेतु। **निषेध साधक-** उपलब्धि हेतु। **निषेध साधक-** अनुपलब्धि हेतु। **विधि साधक-** अनुपलब्धि हेतु।

‘प्रमाणनयतत्त्वालोक’ में इन चारों के क्रमशः ६, ७, ७ और ५ भेद मिलते हैं।

‘स्थानांगसूत्र’^३ में उदाहरण, जिसे प्राकृत में ‘णाते’ और संस्कृत में ‘ज्ञात’ कहा जाता है, के चार प्रकार बताये गये हैं-

१. **आहरण-** ऐसा उदाहरण जो सब प्रकार के उद्धृत पदार्थ से साम्य रखता है, अर्थात् सामान्य दृष्टांता। २. **आहरण तद्देश-** ऐसा उदाहरण जो किसी विशेष दृष्टि से साम्य रखता हो, अर्थात् एकदेशीय दृष्टांता। ३. **आहरण तद्दोष-** दोषपूर्ण उदाहरण। ४. **उपन्यासोपनय-** वादी के द्वारा किये गये उपन्यास के विघटन (खंडन) के लिए प्रतिवादी के द्वारा दिया गया विरोद्धार्थक उपनय।

‘स्थानांगसूत्र’^४ में ही वाद-विवाद के निम्नलिखित छः चरण बताये गये हैं-

१. **ओसक्कइत्ता-** प्रकृत अर्थ से हट जाना। २. **उस्सक्कइत्ता-** पराजित करने के लिए आगे आना। ३. **अनुलोमइत्ता-** प्रतिवादी को अपने अनुकूल कर लेना।

४. **पडिलोमइत्ता-** प्रतिवादी की उपेक्षा कर देना। ५. **भइत्ता-** विवादाध्यक्ष को अपने पक्ष में कर लेना। ६. **भेलइत्ता-** निर्णायकों में अपने समर्थकों का बहुमत कर लेना।

शास्त्रार्थ के जो उपर्युक्त छ प्रकार बताये गये हैं, वे किसी भी प्रकार से जीत की अपेक्षा से बताये गये हैं। क्योंकि सामान्य रूप से शास्त्रार्थ के मूलतः चार ही अंग होते हैं- वादी, प्रतिवादी, अध्यक्ष और सभ्य निर्णय। किन्तु 'स्थानांगसूत्र' में उपर्युक्त छ प्रकार जैन चिन्तकों की इस भावना को दर्शाता है कि वे प्रतिवादी को किसी भी तरह से हराने की इच्छा से शास्त्रार्थ करने बैठते थे।

इसी प्रकार दस प्रकार के तर्कदोष बताये गये हैं^१-

१. **तज्जात दोष-** तज्जात दोष ऐसे दोष को कहा गया है जब वादकाल में प्रतिवादी से क्षुब्ध होकर वादी चुप हो जाता है।

२. **मतिभंग दोष-** विवाद करने वाले व्यक्ति की स्मृति में दोष उत्पन्न होना मतिभंग तर्कदोष है।

३. **प्रशास्तु दोष-** यह दोष तब उत्पन्न होता है जब कोई अधिकारिक व्यक्ति (सभाध्यक्ष) पक्षपात प्रदर्शित करता है।

४. **परिहरण दोष-** यह दोष तब उत्पन्न होता है जब वाद-विवाद के क्रम में वादी द्वारा दिये दोष का छल या जाति से परिहार किया जाता है।

५. **स्व-लक्षणादोष-** यह दोष तब उत्पन्न होता है जब वाद-विवाद में आये हुए पदों की परिभाषा उचित रूप से नहीं की जाती है। अर्थात् वे पद अव्याप्ति, अतिव्याप्ति या असंभवदोष से ग्रसित हों।

६. **कारण दोष-** यह दोष तब उत्पन्न होता है जब चर्चा क्रमवार रूप से नहीं की जाती है। अर्थात् कभी कारण सामग्री के एक अंश को कारण मान लेना या कभी पूर्ववर्ती होने मात्र से कारण मानना।

७. **हेतु दोष-** हेतु की असिद्धता, विरुद्धता आदि दोष से युक्त होना हेतु दोष है।

८. **संक्रमण दोष-** संक्रमण दोष वैसे दोष को कहा जाता है जब विवाद करने वाला व्यक्ति चर्चा के विषय को अकारण बदल देता है। अर्थात् प्रमेय को छोड़कर अप्रस्तुत प्रमेय की चर्चा करना संक्रमण दोष है।

९. **निग्रह दोष-** छल, जाति, वितण्डा आदि के द्वारा प्रतिवादी को निगृहीत कर देना निग्रह दोष है।

१०. **वस्तु दोष-** पक्ष सम्बन्धी प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमान निराकृत आदि दोषों में से किसी दोष का होना वस्तु दोष है।

इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन जैन धर्मग्रन्थों में तार्किक शब्दावलि याँ पायी जाती हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। परन्तु तर्कशास्त्र पर व्यवस्थित पुस्तक प्राचीन काल में नहीं लिखी गई थी। ऐसा माना जाता है कि जो कार्य बौद्ध दर्शन में दिङ्नाग ने किया वही कार्य जैन दर्शन में अकलंक ने किया। अकलंक के ग्रन्थों में जैन प्रमाणमीमांसा के विकसित स्वरूप का दर्शन हो पाता है। अकलंक से पूर्व सिद्धसेन के 'न्यायावतार' में जैन प्रमाणमीमांसा का उल्लेख मिलता है किन्तु उसमें परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि भेदों का निरूपण नहीं हुआ है, अतः यहाँ जैन प्रमाणमीमांसा का विकसित रूप प्राप्त नहीं होता है। सामान्यतः प्रमाण को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो रूपों में विभक्त किया गया है। अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है तथा मति और श्रुत को परोक्ष माना गया है। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष को अन्य दर्शनों से भिन्न रूप में परिभाषित किया गया है। यहाँ इन्द्रिय और अर्थ के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे परोक्ष ज्ञान तथा आत्मा के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण आत्माश्रित है। प्रत्यक्ष का यह स्वरूप आगमों में मिलता है। लेकिन प्रश्न उठता है कि जैन दर्शन अन्य दर्शनों की भाँति इन्द्रिय-व्यापार से जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-व्यापार से रहित ज्ञान को परोक्ष क्यों नहीं मानता? इसका उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि यदि सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष इन्द्रिय के निमित्त से हो तो सर्वज्ञ समस्त पदार्थों को प्रत्यक्षपूर्वक नहीं जान सकेगा, अर्थात् उसकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि आप्तपुरुष सर्वज्ञ है तथा वह समस्त पदार्थों का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष करता है। उसकी यह प्रत्यक्षता तभी सिद्ध हो सकती है, जब वह मात्र आत्मा द्वारा समस्त अर्थों को जानता हो।^६ लेकिन जैनों की यह मान्यता ज्यादा दिन तक अक्षुण्ण नहीं रह पायी, क्योंकि समस्या उत्पन्न हुई कि इन्द्रिय और मन से उत्पन्न ज्ञान को स्वीकार किये बिना वे न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध आदि की प्रमाण चर्चा में भाग नहीं ले सकते। इस समस्या का समाधान करते हुए अकलंक ने प्रत्यक्ष को दो भागों में विभाजित किया- सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष का यह विभाजन लोक व्यवहार को दृष्टि में रख कर किया गया है। **तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्** अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। यद्यपि ज्ञान रूप होने के कारण यह भी ज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मा में ही प्रकट होता है, किन्तु इन्द्रियादि के निमित्त से होने के कारण यह सांख्यवहारिक कहलाता है। अकलंक ने सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद किये- इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। सामान्यतः इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले बाह्य अर्थों के ज्ञान को उन्होंने इन्द्रिय प्रत्यक्ष

कहा है तथा मन से होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रिय, क्योंकि जैन दर्शन में मन को अनिन्द्रिय माना गया है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से सीधा आत्मा द्वारा जो ज्ञान होता है वह मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है। अकलंक ने इसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहा है। अवधिज्ञान. मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान इसके अन्तर्गत आते हैं।

जैन चिन्तक अनुमान, आगम, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं। साध्य से साधन का ज्ञान होना अथवा लिङ्ग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होना अनुमान है। 'न्यायावतार' में अविनाभावी लिङ्ग द्वारा साध्य के निश्चयात्मक ज्ञान को अनुमान कहा गया है।^७ अनुमान के जो दो भेद- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान किये गये हैं उनका उल्लेख सर्वप्रथम न्यायावतार में ही मिलता है। क्योंकि इससे पूर्व अनुमान के इस प्रकार के भेदों का कोई भी उल्लेख जैन ग्रन्थों में नहीं मिलता है। साथ ही जैन प्रमाणमीमांसा में पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोद्दृष्ट भेदों को कोई स्थान ही दिया गया है।

सामान्यतः स्व के लिए जो ज्ञान किया जाता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिस अनुमान द्वारा प्रमाता स्वयं अनुमेय अर्थ का ज्ञान करता है वह स्वार्थानुमान कहलाता है। वादिदेवसूरि ने कुछ अलग रूप में ही स्वार्थानुमान को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है कि हेतु का प्रत्यक्ष होने पर तथा हेतु एवं साध्य के अविनाभावी सम्बन्ध का स्मरण होने पर साध्य का जो ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है।^८ वादिदेवसूरि द्वारा दी गई इस परिभाषा से स्पष्ट है कि हेतु का ग्रहण होने पर साध्य तथा हेतु के अविनाभाव सम्बन्ध या व्याप्ति का स्मरण होता है तत्पश्चात् तर्कप्रमाण के फल रूप साध्य का निश्चयात्मक स्वार्थानुमान प्रमाण उदित होता है।

जो पर के लिए प्रयुक्त (अनुमान) होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमाता जब प्रतिज्ञा, हेतु आदि से पर-पुरुष को साध्य का ज्ञान कराता है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। सिद्धसेन के अनुसार स्वनिश्चय के समान अन्य व्यक्तियों को निश्चय कराना परार्थानुमान है।^९ जहाँ तक परार्थानुमान के अवयवों की बात है तो मुख्य रूप से पक्ष और हेतु इन दो अवयवों की ही प्रधानता रही है लेकिन 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' में दो, पाँच एवं दस अवयवों की चर्चा मिलती है।^{१०}

दो- पक्ष और हेतु

पाँच- प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार एवं निगमन।

दस- प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन एवं निगमनविशुद्धि।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में प्रमाण को विभाजित करके जैन चिन्तकों ने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम (शब्द) को परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मान लिया जिसे भारतीय दर्शन के क्षेत्र में जैन दर्शन का अनुपम अवदान कहा जा सकता है। क्योंकि भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। मीमांसा दर्शन के अनुसार स्मृति अन्य प्रमाण द्वारा गृहीत अर्थ का ज्ञान कराती है अर्थात् वह अनधिगत अर्थ का ग्राही है, अतः वह प्रमाण नहीं है।^{११} इसी प्रकार न्याय दर्शन स्मृति को प्रमा और अप्रमा दोनों ही श्रेणी से बाहर करते हुए उसे आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिए साधकतम हेतु मानता है। यद्यपि स्मृति की उपादेयता को न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि स्वीकार करते हैं, क्योंकि स्मृति के बिना व्याप्ति और अनुमान नहीं हो सकता। बौद्ध दार्शनिक भी स्मृति को प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि स्मृति गृहीत अर्थ का ज्ञान कराती है। जैन दार्शनिकों ने स्मृति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हुए कहा कि संस्कार की जागृति से उत्पन्न अनुभूत अर्थ को विषय करने वाला एवं तत् आकार वाला ज्ञान स्मृति है।^{१२}

प्रत्यभिज्ञान को न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानता है।^{१३} वैशेषिक दर्शन उसे संस्कारजन्य एवं इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यक्ष की श्रेणी में रखता है।^{१४} इसी प्रकार मीमांसकों ने इन्द्रिय-व्यापार के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।^{१५} बौद्ध इसे स्मृति की भाँति प्रमाण मानते ही नहीं है। जैन दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को अविसंवादक मानते हैं और कहते हैं कि स्मृति प्रमाण का फल प्रत्यभिज्ञान है और प्रत्यभिज्ञान का फल तर्क है।^{१६}

तर्क को ऊह भी कहा गया है। न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि तर्क को प्रमाण का उपग्राहक मानते हैं और इस कारण उसे प्रमाण की श्रेणी में नहीं स्वीकार करते। इसी प्रकार सांख्य, मीमांसा और अद्वैतवेदान्त तर्क को अनुमान अथवा अर्थापत्ति में अन्तर्भाव करते हैं। जहाँ तक जैन दार्शनिकों का प्रश्न है तो वे व्याप्तिग्राहक के रूप में तर्क को स्वीकार करते हैं। तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'प्रमाणपरीक्षा' में कहा गया है कि जितना भी कोई धूम है वह सब अग्नि से उत्पन्न होता है। अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार सकल देश और सकल काल की व्याप्ति से साध्य एवं साधन के सम्बन्ध का जो ऊहापोह ज्ञान होता है वह तर्क है।^{१७} माणिक्यनन्दी ने तर्क को परिभाषित करते हुए कहा है कि उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न व्याप्तिज्ञान तर्क है।^{१८} यहाँ यह कहा जा सकता है कि जैन

दार्शनिकों ने जहाँ एक ओर तर्क को स्वतंत्र प्रमाण माना वहीं तर्क के द्वारा व्याप्तिज्ञान को स्वीकार किया, जो जैन चिन्तकों द्वारा भारतीय तर्कशास्त्र में जोड़ी गई एक नई कड़ी कही जा सकती है।

आगम के लिए जैन ग्रन्थों 'श्रुत' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। अन्य दर्शनों में जिसे शब्द कहा गया है उसे जैन दार्शनिक 'आगम' शब्द से संज्ञायित करते हैं। आगम आप्तवचन को कहते हैं। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में आप्तपुरुष के वचनादि से आविर्भूत अर्थज्ञान को आगमप्रमाण कहा गया है।^{१९} आप्तपुरुष दो प्रकार के माने गये हैं- लौकिक एवं लोकोत्तर।^{२०} माता-पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं तथा तीर्थकर या केवली लोकोत्तर आप्त माने गये हैं।

संदर्भ :

1. Scientific method pursues the road of systemetic doubt. It does not doubt all things, for this is clearly impossible. But it does question whatever lacks adequate evidence in its support. - Morris R. Cohen and Ernest Nagel. *An Introduction to Logic and Scientific Method*. Allied Publishers, New Delhi 1984, p. 394.
२. स्थानांगसूत्र, सम्पा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८१, ४/३/५०४
३. चउव्विहे णाते पण्णत्ते, तं जहा- आहरणे, आहरणतद्दोसे, आहरणतद्दोसे, उवण्णासोवणए। वही, ४/३/४९९
४. छव्विहे विवादे पण्णत्ते, तं जहा- ओसक्कइत्ता, उस्सक्कइत्ता, अणुलोमइत्ता, पडिलोमइत्ता, भइत्ता, भेलइत्ता। वही, ६/६७
५. स्थानांग, १०/९४
६. सर्वार्थसिद्धि, १/१२, पृ०-७२
७. न्यायावतार, ५
८. तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् । प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३/१०
९. न्यायावतार, १०
१०. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ८९-१३७ ।

११. श्लोकवार्तिक, शब्दपरिच्छेद, १०४, पृ०- ३०६
१२. तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं, अनुभूतार्थविषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ।
प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३/३
१३. न्यायमंजरी, भाग-२, पृ०- ३३
१४. उद्धृत, न्यायकन्दली, पृ०- २७६-२७७
१५. प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं दृढेन्द्रियतयोच्यते । श्लोकवार्तिक, शब्दनित्यत्वाधिकरण,
३७२
१६. लघीयस्त्रयवृत्ति, अकलङ्कग्रंथस्य, पृ०- ५१
१७. प्रमाणपरीक्षा, पृ०- ४४-४५
१८. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः । परीक्षामुख, ३/७
१९. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थं संवेदनमागमः। प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४/१
२०. स च द्वेधा- लौकिको लोकोत्तरश्च। वही, ४/६



जैन एवं शैव धर्मों के बीच समीपता के साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण

डॉ० कृष्णाकान्त मिश्र*

प्राचीन काल से ही अनेक साम्प्रदायिक धर्मों के उदय और प्रसार ने, जिनमें जैन, बौद्ध, वैष्णव और शैव धर्म उल्लेखनीय हैं, भारत के सम्पूर्ण धार्मिक दृष्टिकोण को मूलतः बदल दिया। सभी धर्मों का मूल एक ही था, मगर दृष्टिकोण अलग-अलग। वैदिक कर्मकाण्डों की जटिलता, वैदिक धर्म में ब्राह्मणों का एकाधिपत्य, आर्य एवं अनार्य विचारधाराओं का संघर्ष, बहुदेववाद, कठोर वर्ण-व्यवस्था आदि के कारण जिन धर्मों का विकास हुआ, उनमें जैन धर्म का उल्लेखनीय स्थान है। गंभीरता से विचार किया जाए तो इन सारे धर्मों के सार-तत्त्व में समीपता दिखाई पड़ती है। इन्हीं कारणों से विद्वानों के बीच वैचारिक मतभेद भी उत्पन्न हुए। कतिपय इतिहासकार जैनधर्म को पूर्व-ऐतिहासिक परम्परा से जोड़ते हैं तथा इसका सम्बन्ध मोहनजोदड़ों की योगीमूर्ति से बतलाते हैं। जबकि मार्शल जैसे विद्वान् ने इस योगी की मूर्ति को 'शिव' से सम्बन्धित माना है। कुछ अन्य विद्वान् 'ऋग्वेद'^१ में उल्लेखित तपस्वियों और जैन श्रमणों में सम्बन्ध स्थापना करते हैं। सौभाग्य से 'ऋषभदेव' का जीवन चरित्र जैन-साहित्य में ही नहीं, बल्कि वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। 'भागवतपुराण' के पांचवें स्कंध के प्रथम छः अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन व तपस्या का विवरण सुरक्षित है। ऋषभदेव का नाम 'ऋग्वेद' में भी मिलता है।^२ 'अथर्ववेद'^३ और 'गोपथब्राह्मण'^४ में स्वयंभू काश्यप का उल्लेख मिलता है जिसका समीकरण विद्वानों ने ऋषभदेव से ही लगाया है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त आकृति में योगी को नग्न अवस्था में दिखाया गया है, जो जैन साधु को प्रदर्शित करता है।

ईसा पश्चात् ६वीं-७वीं शताब्दी के शैवधर्म की बात करें तो देखेंगे कि दक्षिण भारत में जैन एवं शैव धर्म का मतभेद चल रहा था। शास्त्र का समर्थन शस्त्र कर रहे थे। ईसा पूर्व पहली सदी से लेकर ५वीं सदी तक जैनों का ज्यादा प्रभाव था। उस समय रचित साहित्य में 'तिरूक्कुरल, शिल्पादिकरम' 'मणिमैखले' जैसे जैन-साहित्य का निर्माण अपनी पराकाष्ठा पर था।^५ धार्मिक विवाद में राजनीति कुचक्र छिपा बैठा था। उस समय उत्तरापथ की धार्मिक कहानी कुछ और थी, इन्हीं अज्ञात एवं अल्पज्ञात तत्त्वों की विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

* प्राध्यापक, इतिहास विभाग, राजकीय पी०जी० कालेज, कोटद्वार (गढ़वाल)

अभिनवगुप्त जिनका काल ९५० ई० से १००० ई० है। इन्हें 'कश्मीर शैव-दर्शन' का पुरोधा माना जाता है, इनके द्वारा रचित ग्रंथ 'विपुल काव्य ग्रंथ तंत्रालोक' में शैवधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में 'जैन' (अर्हत) की भी गणना है। दसवीं और ग्यारहवीं शती के कुछ जैन रहस्यवादी संतों ने जिन, बुद्ध, विष्णु और शिव को तत्त्वतः एक ही मानकर उनको शिव का रूपांतरण माना है। 'जोइदुं' के अपभ्रंश ग्रंथ 'योगसार'^६ का कथन है, जो शिव शंकर है वही 'विष्णु', वही 'जिन', वही 'ईश्वर' और 'अनंत' है। इसी ग्रंथ का कथन है, जैन धर्म में व्याख्यात परमात्मा जिन, विष्णु और शिव^७ है। 'परमात्म-प्रकाश' भी एक जैन ग्रंथ है जो शिव को नित्य, निरंजन, ज्ञानमय और परमानंद स्वभाव के रूप से वर्णित करता है। 'पाहुडदोहा' ग्रंथ में उल्लिखित है - 'सिव विष्णु सत्ति ण वावरई सिउ पुणु सत्तिविहीणु' इससे स्पष्ट है कि 'जिन' और 'शिव' की एकात्मकता रही है, साथ ही शैवमत के अनेक दार्शनिक सिद्धांतों के उल्लेख भी इस ग्रंथ में मिलते हैं। 'प्रबन्धचिंतामणि' के अनुसार राजा 'कुमारपाल' के गुरु जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सोमनाथ स्तुति की रचना की थी।^८ इतना ही नहीं कुमारपाल ने हेमचन्द्र के कहने से ही सोमनाथ मंदिर का निर्माण किया था। ऐसी ही कथा 'हरिभद्रसूरि' के विषय में भी प्रचलित है।

साहित्यिक स्रोतों में 'जैन' एवं 'शैव' धर्म की समीपता के उल्लेख तो मिलते ही हैं साथ ही, कुछ पुरातात्विक साक्ष्य भी उस काल की जीवतताओं का उल्लेख करते हैं। कोक्कल के वैद्यनाथ मंदिर (खजुराहो) से प्राप्त वि०सं० १०११ का एक अभिलेख जिन, वामन तथा वेदांतियों के ब्रह्म को शिव का ही रूपांतर^९ बतलाता है - 'यं वेदांत विदो विदन्ति मनसः संकल्पभूतं शिवं ...' चित्तौड़गढ़ से उपलब्ध कुमारपाल सोलंकी का (वि०सं० १२०७, ११४९-५० ई०) अभिलेख, शिवमंदिर के निर्माण की प्रशस्ति^{१०} है।

जावलिपुर शाखा के प्रवर्तक चाहमानवंशीय कीर्तिपाल के नाडोल से उपलब्ध वि०सं० १२१४ (११५६ ई०) के ताम्रशासन^{११} का मांगलिक श्लोक ब्रह्मा, श्रीधर और शंकर की विरागवान जिनों के रूप में कल्पना करता है -

शैवतीर्थ राजस्थान में इस काल के जैनों के लिए पवित्र और मान्य थे। श्वेताम्बर अनंत्यदेवाचार्य से धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् अमराणक ने शैव तीर्थ काल-कालेश्वर में स्नान कर जैन मंदिर को भूमिदान दिया था।^{१२} 'शालिग' और 'पुत्रिग' नामक जैन श्रावकों के परिश्रम से महाराज श्री अल्हणदेव ने शिवरात्रि तथा कुछ

८६ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

विशिष्ट तिथियों पर जीव हिंसा बंद करवा दी थी, ऐसा उल्लेख रत्नपुर^{१४} किरडु (जोधपुर) से उपलब्ध शिलालेखों से ज्ञात होता है।

सौराष्ट्रनृपति कुमारपाल द्वारा ग्रहण उपाधि भी विचित्र है, इनके विरुद्ध 'उमापतिवरलवध प्रसाद' अथवा 'पार्वती वर प्रौढ़ प्रसाद' शैवधर्म में इनकी आस्था के द्योतक है, किन्तु कहीं-कहीं 'आर्हत' भी कहा गया है।^{१५}

इस प्रकार ये साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण जैन एवं शैव मत की समीपता के द्योतक हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि तंत्रालोक द्वारा उल्लेखित प्राचीन भारत में कोई शैवधर्मातर्गत 'आर्हत' सम्प्रदाय हो, जो शिव के योगीरूप की अर्चा करता रहा होगा।

संदर्भ :

१. पंचास्तिकाय, ८, ९, और ११.
२. एम० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ०- १५८.
३. षडदर्शनसमुच्चय, ४८.
४. षडदर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ०- ७४.
५. लोढ़ा, कल्याणमल एवं सादानी जयकिशनदास भक्ति-तत्त्व, पृ०- ३५५.
६. सो सिउ संकरू विणहु सो सो रुह वि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु॥ योगसार, १०५.
७. णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विणहु बुद्धु सिव संतु। योगसार, ९
८. णिच्चु णिरंजणु णाणमठ परमाणंद सहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ॥ परमात्मप्रकाश, १७
९. प्रबंधचिंतामणि, पृ० ८५.
१०. एपिग्राफिका इंडिका, प्रथम भाग, पृ० १४९.
११. वही, द्वितीय भाग, पृ० ४२२.
१२. वही, ९ पृ० ६६.
१३. वही, १९ पृ० ७२१.
१४. भावनगर इंस्क्रीप्सन, पृ० १७२।
१५. एपिग्राफिका इंडिका पृ० ५४, कुमारपाल सोलंकी के रत्नपुर अभिलेख, लेख संवत् १२२१.



जैन साहित्य में वर्णित व्यापारिक साधन

डॉ० संजय कुमार पाण्डेय*

व्यापार में व्यापारिक साधन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। देश की आर्थिक समृद्धि आवागमन के साधनों पर निर्भर रही है। कृषि और उद्योग से उत्पादित वस्तुओं का व्यापार आवागमन के साधनों के अभाव में संभव नहीं है। मनुष्य सर्वप्रथम जब इस धरातल पर आया तो अपनी क्षुधापूर्ति के लिए प्रकृति प्रदत्त कन्द, मूल, फल, शाक आदि को खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग करता रहा। वह अपनी खाद्य संग्रहक एवं आखेटक की प्रारम्भिक दशा में ही एक स्थल से दूसरे स्थल की यात्रा करना शुरू कर दिया था, क्योंकि एक जगह से ही खाद्य वस्तुओं की आपूर्ति अधिक समय तक हो पाना सम्भव नहीं था। उस समय भी उसके पास कुछ न कुछ सामान अवश्य ही रहा होगा, जिसे एक जगह से दूसरी जगह जाते समय मनुष्य अपने साथ ले जाता रहा होगा। जैसे-जैसे मनुष्य विकास की ओर अग्रसर हुआ, वैसे-वैसे ही अधिकाधिक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव, विकास एवं सुसंगठन भी होता गया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मनुष्य अपने प्रादुर्भाव एवं विकास के साथ ही परिवहन के साधनों पर निर्भर करता आ रहा है। वह प्रारम्भिक काल से ही यातायात के साधनों के रूप में मनुष्यों, पशुओं आदि का उपयोग करता रहा है।

जैन साहित्य में उपलब्ध साक्ष्यों से स्पष्ट है कि जल और स्थल मार्गों से सम्पूर्ण भारतवर्ष जुड़ा हुआ था। इनमें से कुछ पथ तो मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया तक जाते थे।^१ सिकन्दर के अभियान (आक्रमण) के बाद भारत की पश्चिमोत्तर सीमाओं पर विदेशियों का आधिपत्य व्यापारियों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। शक, पल्लव और कुषाण राजाओं ने भारतीय व्यापारियों के लिए मध्य एशिया के मार्ग खोल दिये थे।^२

थल मार्गों के लिये रथ, शकट, बैलगाड़ी, घोड़ा, ऊंट इत्यादि व्यापारिक साधन थे।^३ 'उपासकदशांग' से ज्ञात होता है कि गाथापति आनन्द के पास माल और सवारी ढोने के लिये पाँच-पाँच सौ शकट थे।^४ 'व्यवहारभाष्य' में प्राप्त विवरण के अनुसार एक राज्याधिकारी ने राजकुल के कार्य हेतु एक गाड़ी तय किया था, जिसका

* प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास, अभय महाविद्यालय, तरना, वाराणसी

गाड़ीवान वस्तुओं को निश्चित समय पर सुरक्षित रूप से पहुँचाता था। राजा ने प्रसन्न होकर उसका (गाड़ीवान) शुल्क माफ कर दिया।^५ इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि शकट रखने पर राज्य को शुल्क देना पड़ता था। रथ तिनिश पेड़ की लकड़ी से बनता था। राजाओं के रथ इतने सुन्दर होते थे कि इनकी गणना रत्नों में की जाती थी। रथों में विभिन्न प्रकार के मणिरत्न जड़े जाते थे। रथ को बैल और घोड़े खींचते थे। घोड़ों और बैलों को सुन्दर आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था। युद्ध में भी रथों का प्रयोग होता था।^६ दूसरी सुखद साधन शिविका थी, जिसे चार आठ या सोलह व्यक्ति मिलकर उठाते थे। इसमें सुखद आसन व शयन की व्यवस्था रहती थी। प्रायः राजा, श्रेष्ठ, सार्थवाह और व्यापारी लोग ही इसका उपयोग करते थे। 'ज्ञाताधर्मकथांग' से ज्ञात होता है कि मेधकुमार की दीक्षा के समय सौ पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका मंगवाई गई थी।^७ इससे स्पष्ट है कि यह बहुत बड़ी और भव्य शिविका रही होगी।

भार वहन करने वाली गाड़ी को शकट या सगगड़ कहा जाता था। इनमें बैल जोते जाते थे।^८ 'वृहत्कल्पभाष्य' से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आभीर शकटों में घी के घड़े रखकर नगरों में बेचने के लिए जाते थे।^९

मार्ग रहित प्रदेशों अथवा घाट रहित नदियों में यातायात हेतु हाथियों का विशेष उपयोग किया जाता था। मुख्यतया राजा की सवारी के लिये और युद्ध हेतु हाथियों का प्रयोग होता था। हाथियों को आभूषण, घण्टियाँ और झूलें पहनाकर ध्वजा, पताका और अस्त्रों-शस्त्रों से मण्डित किया जाता था।^{१०} राजा श्रेणिक और कुणिक हाथी पर सवार होकर भगवान महावीर के दर्शन, नगर विहार और वन विहार के लिये जाया करते थे।^{११} आवागमन के लिये घोड़ों का भी बहुविध उपयोग होता था, घोड़ों का स्वतंत्र साधन के अतिरिक्त रथों में भी उपयोग किया जाता था। उन्हें आभूषण और सुनहरी जीनो से सुसज्जित किया जाता था।^{१२}

नाव, पोत और जलयान जलमार्ग से व्यापार के साधन थे। 'निशीथचूर्णि' में चार प्रकार के जलयानों का उल्लेख है, जिनमें से एक समुद्री मार्ग के उपयुक्त माना जाता था और शेष तीन नदियों और झीलों में चलते थे।^{१३} समुद्र में चलने वाले जलयान को 'पोत' और 'प्रवहन' कहा जाता था।^{१४} 'निशीथचूर्णि' में उन्हें 'यानपट्ट' कहा गया है।^{१५} 'आचारांग' में नदियों में चलने वाली तीन प्रकार की नौकाओं-ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी और तिर्यग्गामिनी का उल्लेख है। प्रवाह के प्रतिकूल जाने वाली नाव को 'ऊर्ध्वगामिनी', प्रवाह के अनुकूल जाने वाली नाव का अधोगामिनी और एक किनारे से दूसरे किनारे तिरछे जाने वाली को तिर्यग्गामिनी कहा जाता था।^{१६} जलपोत लकड़ी के तख्तों से निर्मित होते थे। इनमें पतवार, रज्जु, और डंडे लगे रहते थे।^{१७} समुद्र में चलने वाले जलपोत में कपड़े के पाल लगे रहते थे जिनकी

सहायता से हवा कम होने पर भी जलपोत तीव्र गति से चलता था।^{१८} जलपोतों को रोकने के लिये लंगरों का प्रयोग किया जाता था।^{१९} इन जालपोतों में एक ऐसा जलयंत्र लगा होता था, जिसको पैर से दबाने से यान दायें-बायें मुड़ सकता था।^{२०}

‘ज्ञाताधर्मकथांग’ से ज्ञात है कि जलयानों में विविध प्रयोजनों के लिये स्थान नियत होते थे, यथा - यान के पिछले भाग में नियामक का स्थान, अग्रभाग में देवता की मूर्ति, मध्यभाग में काम करने वाले गर्भजों और पार्श्व भाग में नाव खेने वाले कुक्षिधरों का स्थान होता था।^{२१}

‘निशीथचूर्णि’ से ज्ञात होता है कि चलाते समय यदि कभी नाव में छेद हो जाता और उसमें पानी रिसने लगता तो मूंज और पेड़ की छाल को मिट्टी के साथ कूटकर वस्त्र में लपेट कर छेद भरा जाता था।^{२२} विशाल नावों के अतिरिक्त जल-संतरण के लिये अन्य साधन भी प्रयोग में लाये जाते थे, जिनमें कुंभ, तुम्ब, दत्ति, उडुप, पणि आदि मुख्य थे।^{२३} लकड़ी के चारों ओर घड़े बांधकर तैरने के लिये बनाई गई नाव को कुंभ,^{२४} रस्सी के जाल में सूखे हुए तुम्बे या अलाबू लगाकर बनाई गई नाव को तुम्ब^{२५}, चमड़े के थैले, भेड़, बकरी की खालों में हवा भर कर उन्हें एक-दूसरे से बांधकर तैयार की गई नाव को ‘दत्ति’ कहा जाता था।^{२६} पश्चिमी भारत में नदियों को पार करने का यह एक सुरक्षित साधन था। पाणिनी ने इसे ‘भस्त्रा’ कहा है।^{२७} लकड़ियों को आपस में बांध कर बनायी गयी नौका उडुप कहलाती थी।^{२८} पाणिनी ने इस प्रकार की लट्टों या बांस के मुट्टों में बांधकर निर्मित नौका को ‘भरडा’ कहा है।^{२९} पणिण नामक लताओं से बनाये गये टोकरो की नौका को ‘पणिण’ कहा जाता था।^{३०}

इस प्रकार जैन साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार के व्यापारिक साधन थे। जैसे-जैसे मानव का विकास होता गया, वैसे-वैसे उसके साधन भी बदलते गये। मानव, पशु, कृत्रिम साधन, जैसे- पोत, नौका, शकट आदि जो प्राचीन काल में व्यापारिक साधन थे, वे आज भी बहुत-सी जगहों पर देखने को मिलते हैं। लेकिन आज मानव इतना विकसित हो गया है कि जिस व्यापारिक वस्तु को पहुँचाने के लिए प्राचीन काल में दस दिन लगता था, वहीं आज अधिक से अधिक दो घण्टे लगते हैं।

संदर्भ :

१. वसुदेवहिण्डी, संघदासगणि, भाग-१, पृ०-१४९
२. थापर रोमिला, भारत का इतिहास, पृ०- ७९
३. सूत्रकृतांगसूत्र १/३/२/१९७

९० : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

४. उपसकदशांग, १/२०
५. व्यवहारभाष्य, भाग ६, गाथा-२२३
६. औपपातिकसूत्र, ४९
७. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, १/१२९
८. बृहत्कल्पभाष्य, भाग-१ गाथा-५००
९. वही भाग १ गाथा ३६०
१०. सूत्रकृतांगसूत्र, १/२/१४७
११. विपाक २/४, औपपातिकसूत्र ४२
१२. ज्ञाताधर्मकथांग, १/६३, औपपातिकसूत्र, ४
१३. औपपातिकसूत्र, ४९
१४. वसुदेवहिण्डी, भाग-१ पृ०-२५३
१५. निशीथचूर्णि, भाग-३, गाथा-३१८४
१६. आचारांग, २१३/१/१८
१७. वही २/३/१/११९
१८. औपपातिकसूत्र, ३२
१९. वही
२०. निशीथचूर्णि, भाग-४, गाथा-६०१५
२१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र ९/६९, १७/११
२२. निशीथचूर्णि, भाग-४, गाथा-६०१७
२३. निशीथचूर्णि, भाग-१, गाथा-१९५, भाग-३, गाथा- ४२०९
२४. वही, भाग १ गाथा १९५, भाग ३, गाथा ४२०९
२५. वही, भाग-१, गाथा-१९५
२६. निशीथचूर्णि, भाग-१ गाथा-१८५, भाग- ३, गाथा-४२०९
२७. पाणिनी, अष्टाध्यायी, ४/४/१६
२८. वही
२९. निशीथचूर्णि, भाग-१, गाथा-१९५, भाग-३, गाथा ४२०९
३०. निशीथचूर्णि, भाग-१, गाथा-१९५



English Section

- TATTVĀRTHAVIVARAṆA :
AN APPRAISAL -Dr. G.L. Suthar
- THE CONCEPT OF DHARMA :
A REAPPRAISAL -Dr. Bijayananda Kar
- CAN THERE BE A CHOICE BETWEEN
RELIGION OR NO RELIGION
- Dr. Kanchan Saxena
- THE INFLUENCE OF JAINISM ON
AKBAR, THE MUGHAL EMPEROR
-Dr.Nirmala Gupta
- THE CONCEPT OF MIND IN WON-
BUDDHIST PHILOSOPHY AND YOGA
- Prof. Soen-Keum Kim
- ANEKĀNTA AND THE CONCEPT OF
ABSOLUTISM IN JAINISM
-Dr. Jagdish P. Jain

TATTVĀRTHAVIVARAṆA AN APPRAISAL

Dr. G.L. Suthar

Ācārya Umāsvāti is renowned as the exponent of Jaina philosophy who has pioneered in authoring the aphoristic treatise in Sanskrit language. The prominent logicians of both the sects have tested their philosophical acumen and scholarship by writing learned commentaries and glosses on the *Tattvārtha-sūtra*. All the later Jaina philosophers have held the treatise in high esteem as is evident from the statement of the aphorist Ācārya Hemacandra Sūri in his *Prāmāṇa-mīmāṃsā* – “*Yadi vā prekṣasva vācakamukhyaviracitāni sakalaśāstracūdāmaṇibhūtāni Tattvārtha-sūtrāṇi.*”¹

It is this treatise which has established the aphoristic style of Sanskrit in Jaina tradition and inspired the later Jaina philosophers for writing their works in Sanskrit. It is worth mentioning here that the *Tattvārtha-sūtra* has the trinity of *Jñāna*, *Darśana* and *Cāritra* for its subject-matter. Apart from Umāsvāti himself, the other commentators, Vṛttikāras and Vārtikakāras of the treatise are - Gandhahasti Siddhasena Gaṇi (3rd-4th cent. AD), Siddhasena Divākara (6th cent. AD), Haribhadra (8th cent. AD), Yaśobhadra (351-235 BC), Vācaka Yašovijaya (1620-1686 AD), Gaṇi Yašovijaya (17th-18th cent. AD), Pūjyapāda (510--600 AD), Bhaṭṭa Akalaṅka (620 to 680 AD), Vidyānanda (First half of 9th cent. AD), Śrutasāgara (16th cent. AD), Vibudhasena (life-period unde-

* Director, Pandit Madhusudan Ojha, Research Cell, Department of Sanskrit J.N. Vyas University, Jodhpur

cided), Yogīndradeva (life-period undecided), Lakṣmīdeva (life-period undecided), Yogadeva (1600 AD.), Abhayanandi Sūri (life-period undecided), Cirantanamuni (after 14th cent. AD.) and Malayagiri (12th cent. AD) etc. Thus it appears evidently that there is an abundance of commentaries on the *Tattvārtha-sūtra* serving as the ample proof for its profound popularity. With reference to commentaries, the late Pt. Sukhlal Sanghavi, the great savant of Jaina philosophy, has attempted a very interesting comparison and contrast of the *Tattvārtha-sūtra* with the *Brahmasūtra*, which I am quoting here in its English rendering - “With regard to the tradition-orientated expositions, the ‘*Tattvārthādhigama-sūtra*’ can be compared with the ‘*Brahmasūtra*’. As the expositors possessing entirely divergent views from each other on many a topic have written expositions of the *Brahmasūtra* and, resorting to those alone, have attempted to prove their viewpoints as based on the *Upaniṣads*, so also the scholars of both the schools of Digambara and Śvetāmbara have written expositions of the *Tattvārtha* and have attempted to establish even the mutually contradictory views on the basis of the canonical literature. The similarity established by it is this much that as the talented *Ācāryas* having divergent opinions felt the necessity of expressing their specific statements resorting to the *Brahmasūtra* due to its celebrity in the Vedānta literature, so the scholars of both the Jaina schools, too, had the necessity of expressing their viewpoints taking recourse to the *Tattvārthādhigama* owing to its established reputation in Jaina literature. Despite this external similarity, there is a difference of paramount importance between the tradition-orientated expositions of the *Brahmasūtra* and the *Tattvārtha-sūtra*. The famous expositions of the *Brahmasūtra* greatly differ from each other on the fundamental topics of philosophy such as world, migratory soul, God, etc. and at many times they seem to be poles apart in their ideology whereas no such absolute divergence is seen amongst the expositors of any of the two schools belonging to the *Tattvārtha*. There is not any divergence on the fundamental topics

of *Tattva-jñāna*. Whatever the little divergence there is, that too is about altogether ordinary things. It is not that there is no room for reconciliation in that divergence or it is opposite like East and West. As a matter of fact, there did not emanate particular difference of opinion between the Digambara and the Śvetāmbara schools with regard to the basic tenets of Jaina philosophy. Therefore, the divergence of views seeming in the expositions of the *Tattvārtha* is not regarded as very serious.”²

Having made this relevant introductory observation, now I come to the main theme of the paper. The *Tattvārtha-sūtra* consisting of ten chapters deals with the theory of knowledge in its first chapter alone. Unlike the *Nyāya-sūtra* of Gautama, Umāsvāti does not adopt the threefold procedure of a *śāstra* in his *Tattvārtha-sūtra*. “*trayī hi śāstrasya pravṛttiḥ -uddeśo lakṣaṇa parīkṣā ca.*”³ viz. the procedure of a scientific work is threefold - enumeration, definition and examination. It represents the canons adopting twofold procedure i.e., enumeration and definition. The celebrated Jaina philosopher Pt. Sukhlal Sanghavi has rightly remarked about the theory of knowledge of the *Tattvārtha-sūtra* in his observation which I am quoting here in its English rendering - “The discussion of cognition in the theory of knowledge is not cogent and of philosophical style like that of *Pravacanasāra*, but, bearing resemblance to the canonical style of the discussion of cognition found in *Nandīsūtra*, it merely describes all the divisions and subdivisions of knowledge along with their objects as also points out the difference between right knowledge and nescience.”⁴

The celebrated Jaina neo-logician Mahopādhyāya Yaśovijaya of 17th-18th centuries AD too, has authored an authoritative commentary entitled ‘*Tattvārtha-vivaraṇa*’ on the *Tattvārtha-sūtra* along with its auto-scholium. From the point of view of availability and unavailability, Pt. Sukhlal Sanghavi has put the works of Yaśovijaya under three categories⁵ -

1. Available in complete

2. Incompletely available

3. Unavailable

The *Tattvārtha-vivaraṇa* comes under the second category. It deals with the first chapter alone. The theory of knowledge propounded by Ācārya Umāsvāti has been subjected to detailed investigation in it.

Ācārya Umāsvāti in the *sūtra* - “*pramāṇanayairadhigamaḥ* (1/6) has indicated the instrumentality of *Pramāṇas* and *Nayas* to knowledge. Mahopādhyāya in his *Vivaraṇa* on the *sūtra* has reaffirmed the same as follows - “*atra karaṇe tṛtīyā, na kartari. ‘Katrakarmṇoḥ kṛtī tyanena ṣaṣṭhiprasaṅgāt.’*”⁶. While discussing the ascertainment of the twofold classification - perceptual and non-perceptual cognitions, his statement - “*tatra prasiddhe Nandyadau siddhānte dvidvidham pramāṇamuktam*”⁷ establishes the *Nandīsūtra* etc. as basis for the twofold classification of *Pramāṇa* (organ of valid cognition) found in the *Tattvārtha-sūtra*. He has further stated in no equivocal words that the twofold classification of *Pramāṇa* is not like the one accepted by the Buddhists and Vaiśeṣikas. It is interesting to note that he uses the word ‘*māyāsūnavīya* for the Buddhist Philosophers. Ācārya Umāsvāti in his *Bhāṣya* on the *sūtra* has also referred to the fourfold classification of some Ācāryas, but without mentioning the names of those *Pramāṇas* and their upholders. It becomes clear from the *Vivaraṇa* that the fourfold classification of *Pramāṇa* owing to the distinction of perception, inference, analogy and verbal testimony is found in the work entitled ‘*Anuyogadvāra.*’

Having raised a question about the distinction between *Pramāṇa* and *Naya*, he has cited two views upheld by some philosophers and critically assessed them with the precision tools of a neo-logician. Quoting the duo of *ślokas* -

*ayam na saṁśayaḥ koteraikyāna ca samuccayaḥ/
na vibhramo yathārthvādapūrṇatvācca na pramā //*
*na samudrosamudro vā samudraṁśo yathocyate/
nāpramāṇa pramāṇam vā pramāṁśastathā nayaḥ //*¹⁰

he has supported the view upholding the *Naya* (Viewpoint) as a part of *Pramāṇa*. Owing to the state of *Nayajñāna* being excluded from erroneous cognition, valid cognition (*Pramā*) and doubt as also from their aggregation, there arises an objection as to how its presence and absence will correspond to those of the verbal testimony. He has refuted this objection with the acumen of a neologist. He contends that it (the objection) is not right. There is a difference of nature of the cognition generated by the statement like '*Tattvamasī*' (That thou art) [in comparison with the cognition generated by ordinary verbal testimony] in the system of Vedāntins and there arises a different type of cognition by the denotation of suggestion (in comparison with the cognition produced by the ordinary organs of knowledge) in the doctrine of rhetoricians. Though *Naya* (viewpoint) is of the nature distinct from erroneous and valid cognitions as well as doubt and their aggregation, there is no impediment in admitting its variety due to the variety of purport. Despite the fact that the cognitions like *Śruta*, *cintā* and *Bhāvanā* don't violate the generality of word-generatedness, their intermediate variety owing to the long and longer function of word is scripturally established. Or as in the perceptual cognition generated by word, the variety in the cognition generated by word should be conceived."¹¹

Pointing out the defect in the definition "*anantadharmātmakatvapatipattiviśiṣṭe vastunyeka-dharmāvadhāraṇam Nayaḥ*",¹² he puts forth a precise definition of *Naya* as follows – "*apekṣayaikadharmāvadhāraṇam*".¹³ Finally, resorting to the verdict of experience in the form '*Pramiṇomi*' and '*Nayāmi*', he directs that the characteristic objectness distinguishing '*Pramāṇa*' and '*Naya*' needs must be accepted (*pramiṇomi nayāmītyanubhavā sāksiko viśayatāviśeṣaḥ pramāṇanayabhedakovaśyamabhyupagantavya iti dik.*"

While explaining the *sūtra* pertaining to the classification of *Jñāna* (*matiśrutāvadhimanahparyāyakevalāni jñānam*)¹⁵,

Mahopādhyāya Yaśovijaya brings about the compatibility of the usage of ‘*kevalāni*’ and *jñānam*’ in plural number and singular number respectively as follows - “*na pañcabhiḥ sambhūyaikam jñānamavagrahādicaturbhiriva bhavatīti sūcanāya kevalanti bahuvacanam, jñānamityatriakavacanam tu pratijñānurūpatvāt prativacanasya.*”¹⁵ The learned author of the sub-commentary entitled ‘*Gūḍhārthadīpikā*’ on the ‘*Vivaraṇa*’ of Mahopādhyāya Yaśovijaya has presented an elaborate explanation of this portion taking recourse to the terse technical terms of Navya-nyāya. Removing the lacuna in the *bhāṣya* on the *sūtra* in question, Mahopādhyāya Yaśovijaya has put forth specific definitions of the five cognitions precisely as follows¹⁷ :

1. *Indriyānindriyavyāpārajanyam jñānam matijñānam*
2. *Śabdaśaktijanyam jñānam Śrutajñānam*
3. *Rūpimātraviṣayamavadhijñānam*
4. *Bhāvamaṇḥparyāyamātrasākṣātkari maṇḥparyāyajñānam*
5. *Jñānāntarāśahacaritam sarvaviṣayam vā kevalajñānam*

Explaining the *sūtra* ‘*tatpramāṇe*’¹⁸ he has rightly observed in support of the scholiast Umāsvāti that the state of organ of valid cognition (*Pramāṇatva*) and the number two both are enjoined in the *sūtra*. According to him, all other *Pramāṇas* accepted by the opponents are included under these two provided they are really organs of valid cognition. He further opines that of both the direct and indirect the ‘*sākāra*’ cognition (determinate i.e. devoid of doubt and error etc.) alone deserves to be designated as *Pramāṇa*. It is worth-mentioning here that in the exposition of the *sūtra* (1/10),¹⁸ he has also discussed the view of the Jaina philosophers who uphold all the cognitions as direct knowledge (*Pratyakṣa*) because the word ‘*Akṣa*’ (अक्ष) is commonly used for mind, sense-organs and soul. Herein the views regarding the conception of directness (*Pratyakṣatā*) and indirectness (*Parokṣatā*), too, have been discussed in detail.

Now comes the turn of discussing Yaśovijaya's interpretation of the duo of *sūtras* - (i.e.) 'ādye parokṣam'¹⁹ and 'pratyakṣamanyat'²⁰ which pose a great challenge to the commentators accepting the modified classification of *Pramāṇas* introduced by the systematizer of Jaina epistemology Ācārya Akalaṅka who met the challenge and refuted the charges levelled against Jaina epistemology by Naiyāyikas and other non-Jaina logicians. There is no explicit indication of the twofold perceptual cognitions - empirical and transcendent. Yaśovijaya opines that the statement regarding the indirectness of *Mati* and *Śruta* is from the point of view of *Niścaya*. From the practical point of view, their directness is certainly desirable. To substantiate his view he quotes from the *Nandīsūtra* - "yatobhīhitam Nandyām - 'tam samāsao duvīham paṇnattam - indiyapaccakkham ca no indiyapaccakkham ca.'"²¹ He further clarifies that empirical perceptuality is stated by "inpiyapratyakṣam (indiyapaccakkham)". He resorts to the method of 'yogavibhāga' i.e. separation of the words of a *sūtra* or splitting of one rule into two or more. With a view to reconciling his opinion with the Bhāṣyakāra. It has been frequently used by Patañjali in his *Mahābhāṣya*. Mahopādhyāya Yaśovijaya in the end of his *Vivarāṇa* on the *sūtra* (1/11) says "bhāṣyakārasyāpi yogavibhāgā unindriyajanyajñānasya siddhā pratyakṣatā, sa caivam yogo vibhajanīyaḥ, ādye parokṣam niścayataḥ, pratyakṣam cādye vyavahārata iti."²² Vijaya Darśana Sūri in his *Gūḍhārthadīpikā* on the *Vivarāṇa* has clarified the *Yogavibhāga* as follows "pratyakṣamanyadityatra pratyakṣam prathamāsūtropātena ādye ityanenāpi sambadhyate, anyatīyanenāpi, uktaparakāreṇa yogavibhāge ādye parokṣam niścayataḥ, ādye pratyakṣam vyavahārataḥ, anyadīyanena saha pratyakṣameva sambadhyate, na parokṣam tathā ca tatonyat avadhyādītrayamekāntena pratyakṣameveti yogavibhāgato labhyata iti tadarthaḥ."²³ Really speaking, the reasoning of 'Yogavibhāga' has been skillfully and rightfully applied to seek the support of the *Sūtrakāra* for the twofold division of perceptual cognition.

Thus it is amply evident from this discussion of Yaśovijaya's excellent interpretation of the epistemological concepts of Umāsvāti that he has attempted to link the *Tattvārtha-sūtra* with the latest development in Jaina epistemology. It has reaffirmed the celebrity of the *Tattvārtha-sūtra* as fountainhead of the epistemological discussion in Jaina philosophy. The arguments put forth by him to fill the lacunae in the *sūtra* along with its auto-scholium are cogent and coherent. His reconciliatory approach has associated the *Tattvārtha-sūtra* with the latest progress in Jaina logic and thereby dispelled the misconception that it has lost the *sūtra* for its basis.

Really speaking, Mahopādhyāya Yaśovijaya with his philosophical acumen and eminence in the style of Neo-logic (Navya-Nyāya) has updated the *sūtra* which was considered outdated with reference to the latest developed theory of knowledge in Jaina philosophy. The objection as to how the presence and absence of *Naya* (viewpoint), which is of absolutely distinct nature, corresponds to those of verbal testimony has been refuted with cogent arguments supported by the instances of *Vyañjanā vṛtti* of rhetoricians and the statement 'That thou art' (*Tattvamasī*) of Vedāntins. Thus Mahopādhyāya Yaśovijaya has fully contributed his mite to enrich the literature of Jaina logic and epistemology by the commentary '*Tattvārtha-vivaraṇa*' and other authentic treatises due to which he has been acclaimed as the top-most Jaina logician of 18th Century not only in the Śvetāmbara school but also in the Digambara school.

References

1. *Pramāṇa-mīmāṃsā*, Hemacandra, Sarasvati Pustak Bhandar, Ahmedabad, 1989, 1/1/1 p.-1
2. *Tattvārtha-sūtra*, Pt. Sukhlalji Sanghavi, PVRI, Varanasi, 1993, 'Introduction', pp. 59-60.
3. *Pramāṇa-mīmāṃsā* 1/1/1, p.-2
4. *Tattvārtha-sūtra*, Preface, p. 48.
5. *Jaina-tarkabhāṣā* : Sarasvati Pustak Bhandar, Ahmedabad, Reprint 1993, List of the works of Mahopādhyāya Yaśovijaya

6. *Sabhāṣya-tattvārthadhigama-sūtras* along with *Vivarāṇa* (I *Adhyāya*) and *Gūḍhārthadīpikā* : Maṅua (Saurashtra), V.S. 2011, p. 155
7. *Ibid* p., 156
8. *Ibid*
9. *Ibid*, p. 157
10. *Ibid*, p. 160-161
11. *Ibid*, p. 161
12. *Ibid*, p. 161
13. *Ibid*, p. 162
14. *Ibid*,
15. *Tattvārtha-sūtra*, 1/9
16. *Sabhāṣya-tattvārtha-sūtra* along with *Vivarāṇa* (I *Adhyāya*) and *Gūḍhārthadīpikā*, p. 183
17. *Ibid.*, pp. 184-189
18. *Tattvārtha-sūtra*, 1/10
19. *Ibid.*, 1/11
20. *Tattvārtha-sūtra*, 1/12
21. *Sabhāṣya-tattvārtha-sūtra* along with *Vivarāṇa* (I *Adhyāya*) and *Gūḍhārthadīpikā*, p. 198
22. *Ibid.*, p. 200
23. *Ibid.*, p. 200-2001



THE CONCEPT OF DHARMA : A REAPPRAISAL

Dr. Bijayananda Kar*

In the precise sense of the term, *dharma* is not same as religion. While religion with its semitic root is profoundly found to be theistic, accommodating different shades of meaning without damaging its essential elements like specific dogmas, rites and rituals. *Dharma*, on the contrary, seems to be rather not so much *theo-centric*; instead it, at least so far as its exposition in different classical sources are taken into account, is predominantly *ethico-centric*.

The most fundamental issue with which *dharma* is exposed is the Vedic concept : *ṛta* (the moral principle). Usually *ṛta* is regarded as the fundamental law of the universe, inherent in the nature of things. This gives rise to the suggestion that *ṛta* is *cosmo-centric*. However, it is held that later on this concept is held as *dharma*. It should be noted that the gradual shift from *ṛta* to *dharma* does not mean any drastic change. The sense of morality with which *dharma* is involved is also inherent in *ṛta*. The expression that the universe is regulated by law only reveals that the Vedic seer adopts a moral outlook towards everything. It indirectly suggests the autonomy of morals in all spheres. It is the moral sense that gives rise to coherence, compatibility and adjustment being based on reason. In other words, viewing the universe from the standpoint of moral reasoning is a special feature of the dharmic framework. To view everything from moral perspective does not

* Former Prof. of Philosophy Utkal University, Bhubaneswar

in any way affect the factuality or the empiricity of the world. This only implies that *dharma* adopts an ethical approach to everything so that the valuational aspect is significantly drawn to the focus. The pervasive moral outlook that is emphasized in dharmic tradition does not necessarily need any theological passport. It is designed to have free thinking in the socio-human setup. In this sense, *dharma* is a social necessity without having any necessary linkage with trans-social or trans-empiric foundation. It is worth noting in this regard that despite their opposition to sacrifices, rigid rituals and to the dogmatic belief in the creator, Buddhism as well as Jainism are never antidharmic. Both have clear and unambiguous acceptance of the doctrine of *karma* : an offshoot of the Vedic concept of *ṛta*.

The moral outlook is not merely confined to man's relationship with other fellowmen, but it is extended to animals, plants and the whole nature. It is, in this context, the concept of *ṛna* (debt) has significance. From the very birth of man it is viewed that he is under moral obligation. Unless the natural surrounding is congenial, the nearby people are generous and cooperative, the very survival of human child is not possible. He is able to grow in a healthy condition on account of all such available facilities. Therefore, man is reasonably under moral obligation to the surrounding things and beings. He should develop the tendency of preserving the natural order in best possible manner so that he remains at peace along with others and at the same time he has the optimum benefit from it. It is not simply for one's own individual purpose or gain. The moral sense has been engineered on the basis that man is not simply one by himself alone but he is what he is only when he treats him as one with others. The sense of fellow feeling is not an external imposition. It is viewed as inbuilt in human psyche. It is, in that way, the sense of duty and obligation are given primacy over rights and individual expectations. It is, precisely in this sense, there is advocacy for the due

recognition of *tyāga* or *nivṛtti* (willing disownment) over and above *bhoga* or *pravṛtti* (enjoyment). If the moral order is well dharmic, mind seems to have been well conscious of the autonomy of morality and, in that connection, is not prepared to make any compromise with the demand and expectation from theological source. The Pūrva Mīmāṃsakas, for instance, move to the extent of boldly asserting that deities or divine beings are controlled by rules, or principles (*mantrādhīna devatāḥ*).

Even the āgamic sources which are considered as earlier to Vedic (Nigamic) sources do subscribe to the acceptance of moral order despite their giving importance to a theistic model and thereby introducing devotion (*bhakti*). The Jaina and the Bauddha traditions even if have made significant departure from the early Vedic insistence on the performance of sacrifices, rites and rituals do not at all oppose the concept of *ṛta* and equally accept the moral axiom which for them overrides the theological or theistic presumption. The concept of divinity and the element of devotion to the theistic Lord (*Īśvara*) are, no doubt, found to have occupied a major portion in the later epic, *smṛti* and purāṇic sources; but, it needs to be also noted that theistic and spiritualistic emphasis have never sacrificed the moral foundation which somehow or other is found to be inbuilt in the dharmic tradition in India.

It is, with this background, it seems better in looking to the other important concept, *darśana* which is operated along with *dharma*. Unlike religion and philosophy here in the Indian context, one finds the use of the concepts of both *dharma* and *darśana* as not so much opposed to each other. The relation between the two is rather complementary. It is, of course, true that during the medieval age of western intellectual history, philosophical discussion was found to be subservient to theology. It was advanced to defend and establish the theological claim but for that, the whole age has been decried as the dark age and philosophy has been said as handmaid of theology during that period. It is not faith but reason

that is usually accepted as the point of recognition for philosophy. Religion being founded on faith and philosophy being based on reason and logic are thus viewed to be poles asunder. However, there has been recent attempts to explore the rational basis of religious faith and, in this context, the role and contribution of philosophy of religion is, obviously remarkable. But again it is to be noted here that such philosophical enterprise of analyzing the religious concepts and theories is not set to defend or offend any such theoretical positions but only to understand the discourse of religion purely from the point of view of conceptual analysis. It is not a religious but distinctly a meta-religious enquiry. *Dharma*, as hinted before, is not same as theology. Its primary concern is morality. Even if theistic frame is given prominence in certain circle, it is not at the cost of moral significance. *Īśvara* is too bound by the moral law which is viewed as fully autonomous.

When *dharma* is interchanged with the practice of certain rites and rituals with the supposition that such practices would give rise to the attainment of supra-empirical status in the realm of divinity, that sense of *dharma* is set aside by the Advaita Vedāntins like Śaṅkara who unequivocally holds that Advaita darśana is for *jñānamīmāṃsā*. For his dārśanic program, Śaṅkara never propounds a theological doctrine. His Advaitavāda is a typical philosophical position having a deep-rooted metaphysical and epistemological significance. In the classical Indian philosophical perspective, there are well known schools of *darśana* and those are never set to found any religious sect or cult. However, in the tradition, one comes across the different formulations like Śaiva, Śākta, Saurya, Gāṇapatya, Vaiṣṇava and so on. But those are, it should be noted, not distinct dārśanic positions based upon philosophical reasoning, rather those are different theistic positions based on diverse forms of faith/belief. This point of view at times is found to have been traced in certain quarters as some form of philosophy and thereby attempts have been made to expose their

philosophical foundations. But such attempts, neither logically contribute nor detract anything so far as different classically established dārśanic views are concerned. *Dharma* in the context of Śaiva, Śākta, etc. has been used as referring to cult/sect. And from that it follows that the expressions like Hindu dharma, Bauddha dharma and Jaina dharma etc. can never mean religious cult/sect. Here *dharma* seems to have a wider meaning of adopting a view about life as a whole and not simply confining to religious, theological mode. In this sense, *dharma* is distinct from religion which includes definite sense of theo-centricism / theologism in some form or the other. It is interesting to note that the western scholars have now been able to appreciate this important point and therefore *dharma* is adopted as a separate word in English language since there is no equivalent term for it found in the western tradition.¹

Further, while religion is distinctly faith-bound, *dharma* is something different. It does have a social concern within the empiric frame. It is notably secular, of course, being relevant to socio-moral foundation. It has been primarily framed to boost up and invigorate the preferable sense of harmonious an corporate living. The individual is never considered as an end in itself in the dharmic level. The sense of justice is to keep a balanced and reasonable stand between the individual and social needs and requirements. It is not simply an approach of compromise. It is viewed as remarkably moral that is never trans-empirical (sacred) but significantly profane and life-affirming. The moral sense that is boosted up in *dharma* is not visionary and unpractical; it is, on the contrary, firmly workable, and thus it is meant as a good specimen in the field of applied ethics. *Dharma* can be pursued with or without the spiritual background. There is no bar for a *dharmajña* to be a follower of certain spiritual path or discipline. He may feel that path as a good move for getting relaxation and comfort. But it is never viewed as indispensable or logically necessary. The

dharmajñā is well aware of the logical independence so far as the boundary between morality and religious spiritualism is concerned. One can either adopt a theistic or a non-theistic attitude to acquire concentration and purity. Those are left to the individual choice and interest. But the main imperative that is consistently suggested throughout is to pursue and develop a dharmic or moral bond between oneself and others. Even the theistic Lord is never conceived in the setup as beyond the moral law (*ṛta*). He is also to undergo penance and is never to bypass atonement, if that is necessary on account of some form of moral lapse. The moral law is equally extended to the *devas* as well *dānavas*. It is not that the *dānavas* are thought to be tested by the moral discipline and the *devas* are exonerated. For any moral failure, both of them are equally held as responsible. All this shows the sense of autonomy and freedom through which *dharma* has been viewed in this tradition.² It is not simply a stray of thought belonging to human emotion and feeling. It is not to be castigated as mere matter of emotion and thus can be reduced to something non-cognitive and non-intellectual. The moral principles are viewed as prescriptions having deep sense of rational justification that has definite sense of socio-empiric significance. In this way, *dharma* is not religion in the dogmatic theological setup. It is morality that has illuminative socio-empiric concern and is free from religious theological rigidity.

However, it is not to be ignored that there are other uses of the term : *dharma*. *Dharma* means the quality or the essence of a thing or a being. *Dharma* and *adharma* in Jainism have technical meaning as medium of motion and stability. *Dharma* refers to the social code and conduct that is prescribed in a social setup. The society of a particular variety adopts certain rules and regulations quite in tune with the corresponding customs and conventions. The racial, linguistic and cultural traits influence the dharmic sense to a considerable extent. But, it should be noted, the sense of *dharma*

becomes localized and institutionalized. It is treated as group morality based on different factors as stated before. It is thus different from the universal sense of morality that is not limited to a particular community, historical and geographical limitations. And, it is that sense of morality that is emphasized in the Vedic as well as non-Vedic tradition. *Dharma*, in this sense, is universal and is accepted without any hesitation by a Hindu, or a Jaina or a Bauddha. That is why in due course of time and changing situations, these *dharmas* welcome changes and reforms and do not manifest any sense of dogmatic inflexibility.

So far as *Smṛti*, *Purāṇa* and other allied sources are concerned, it is interesting to note that along with *bhakti* there are emphasis laid upon *karma* and also on *jñāna*. Through stories and anecdotes the importance of *karma* (in the sense of understanding) is highlighted. It is said that Lord considers that individual to be a great devotee who instead of praying or worshiping Him constantly remains duty bound without having any moral lapse. Action that is preferable and suitable to the person concerned needs to be performed without any hesitation. Execution of one's own duty is considered to be worthy. And, to properly demarcate the good action from the bad ones, discriminative knowledge (*vivekī-jñāna*) is needed. So the role of intellect (*buddhi*) is not at all belittled. The Vedic maxim; *tamaso mā jyotirgamaya* ("Let there be move from darkness to light") is possible only through the culture of *jñāna*. In other words, the moral outlook need not be trans-rational. It does operate in the framework of reason. Moral reasoning has its own autonomy. It need not be brushed aside as being rooted on emotion and feeling.

One sophisticated elite is relatively in a better state to follow the implication of discriminative intellect and a laity (commoner) is mostly in a disadvantageous state to come up to that level on account of his general ignorance. He is likely to be moved by emotional appeal and may not always be able to discriminate subtle

sense of right and wrong, good and bad. For this, he looks to the expert for counselling. While theistic temper has already been crept into the impersonal absolutism of the Vedas/Upaniṣads and later on through the cross-cultural contact, theistic diversifications are introduced with some sort of popular basis, the intellectuals (i.e., *dharmajñas* and *darśanajñas*) have opted for a pragmatic and practical move suggesting thereby that theistic attitude, if is already well in tune with the psyche of the people, then there is no oddity in acknowledging that trend along with the dharmic framework. In other words, neither a materialist nor a spiritualist is necessarily immoral or amoral being. Having a theistic background, he adopts a moral life. There is no impropriety in conceding to that. So also a person having no fascination for spirituality and is quite in tune with material surrounding can well adopt a moral life and can be socially respected. Hence, a person having a neutral attitude to life, without being tilted to either spiritual or material framework, can live normally by following the tract of morality more or less in flawless manner. *Dharma* is of primary concern in the socio-empiric setup. It has been viewed throughout advocating this point quite consistently through different symbolic formulations like stories, anecdotes, poems and others.

In modern times, *dharmā* has been found as being reviewed on account of changing situation. The move is not arbitrary; it is very much in tune with the tenet of *dharmā*. Gandhi's call for social integrity, sacrificing therein religious differences, Vivekananda's call for social service neglecting fanatic rigidity, Tagore's appeal for human welfare as most important (service to man is service to God) are some of the few notable illustrations in which dharmic sense of moral awareness is well brought out. So also, there are number of such moves in the regional, linguistic and cultural groups. Devātmā from Punjab has in recent times launched his mission of propagating Deva Dharma, free from religious orthodoxy and advancing a naturalistic world-view. Dr. Kavoor, the

notable rationalist, has been found as very critical about the theological dogmas and superstitious beliefs, but nevertheless has not opposed to the moral foundation of *dharma*. The Periyar Self-respect Propaganda Institution, founded by Periyar E.V. Ramasami is quite active in criticizing the theological claims and appeals for a humanistic world-view free from caste-creed discrimination. Keshab Chandra Sen from Bengal has vigorously launched campaign against Brahminic orthodoxy and superiority during his days. Pandit Nilakantha Das from Orissa (born of a conservative Brahmin family and a noted political figure) has advanced social reforms against Brahmin orthodoxy along with his other four associates (all well known as great *Pañca-sakhās* of modern Orissa). He also has made a full-length original commentary on *Bhagvadgītā* and has persuasively argued that *Gītā dharma* is *mānava dharma* being based on *nīti* (moral) and it is *Īśvara-bihīna* (Godless) *dharma*.³ The reform movements launched by the Ārya Samāja, Brahma Samāja etc. are also important moves in this direction. All such moves amply justify that *dharma* is not limited to any form or rigid conservative traditionality. Perennially it is open textured and is amenable for any kind of plausible and meaningful change based on moral justification at the secular front.

The different forms of theistic expressions continue to thrive not simply exclusive of each other, but also with a spirit of mutual harmony, probably because of the social pressure. On account of the reconciliatory tendency, there has been the emergence of *Ardhanārīśvara* (the composite form of Śiva-Pārvatī), Hari-Hara (the composite form of Śiva-Viṣṇu), Śiva-Sūrya (the composite form of Śiva-bhāskara)⁴, the *yugala* (combine) form of Lakṣmī-Nārāyaṇa, Sītā-Rāma, Rādhā-Kṛṣṇa and such other composite theistic formulations. This trend has been extended further keeping in view of the regional, local and cultural traits. As a result number of deities are rather invented (which have no astrict documentary authenticity) to cater to the emotional expectation of common

mass, right from rural folk to urban dwellers. Though such sort of proliferation does not seem to have any traditional footing, it nevertheless indirectly contributes to the preservation of dharmic consciousness. But, it is also seen that through the passage of time, the core meaningful message of *dharmā* is somehow pushed to the oblivion on account of several degenerate social moves like political atrocity and subjugation, unprecedented economic disparity, social inequality causing social injustice which are due to blind superstitions and irrational moves.

Dharma today, is almost kept to the minimum and rather the common man usually leads a life of corruption and hypocrisy. There are prolific growth of temples, religious institutions and congregations, emergence of god-man in any number throughout the nook and corner of the entire subcontinent and elsewhere. All this might have started with noble mission. But, painfully, such moves have mostly been not up to the mark in concretizing their mission. Corruption is rampant today and there is almost a total moral bankruptcy. Despite all such dharmic patronage, the subcontinent is now rated as one of the most corrupt areas of the world. It indeed is a matter of heavy concern. It goes without saying that such a situation forces us to review and examine the whole setup. Dharmic lapse which one notices today is not due to its philosophical foundation. But, it seems to me such untoward consequence has happened because of not properly comprehending its philosophical implications. The dārśanic impact on *dharmā* is along positive and complementary. As it has been discussed, starting from the Cārvāka up to the Vedānta darśana (in its different facets), the classical philosophical views have not at all been advanced in opposition to dharmic order. Rather those moves, in their own ways, are booster to dharmic thinking as well as practice.

The Cārvāka's opposition to the Vedic sacrifices of animals and even men (in the name of spiritual attainment) is commendable. The Jaina darśana is primarily dharma-oriented. Its noble

intention of preserving dharmic sanctity, instead of theological obscurantism is strikingly important. Baudha darśana too is non-theological and has clear affinity with moral outlook. Its regard for *dharmma* in the sense of preserving secular morality is, no doubt, remarkable. Both Sāṅkhya-yoga and Nyāya-Vaiśeṣika philosophers are primarily set in a non-theistic setup and such philosophies never stand against the operation of secular morality. The Mīmāṃsaka's distinction between descriptive and prescriptive utterances (*siddhārthavākyas* and *vidhāyaka-vākyas*) is logically significant and it goes a long way in the field of linguistic philosophy. Such account in matters of philosophizing never stands the way of undertaking moral practices at the social front. The Vedāntins, particularly the Advaitins, despite their propagating non-dualism at the theoretical plane, has never obstructed the smooth conduct of empirical living. The recognition of *dharmma*, *artha* and *kāma* in the social situation is quite important. In fact, the very notion of *jīvana-mukti* and *loka-saṅgraha* pave the way for a proper composition of all the three values and that is never construed as *dharmma-viruddha* but as *dharmānukūla* (not against morality but for morality). The theistic Vedāntins, despite their leaning for a theistic framework, have not downgraded the dharmic order in the secular front. The modern dharmic reformative moves by Gandhi, Vivekananda and others are also good addition in this regard.

Darśana, as critical enquiry, has never stood against dharmic *cetanā* (moral awareness). The significance of moral sense is never belittled in the Indian philosophical tradition. It has been well stated that *dharmma* is under all circumstances to be preferred⁵. Even it is held that *dharmma* is the supreme aim⁶. This clearly vindicates that *dharmma* is held as fully autonomous and is not controlled by any higher principle, spiritual or theological entity. *Dharma* is secular and that is now it is relevant in all ages.

References

1. *Chambers concise 20th Century Dictionary*, Indian reprint 1991, p. 262 (Dharma as righteousness that underlies the law).
2. Mr. M. Hiriyanna. (*Outlines of Indian Philosophy*, London : George Allen and Unwin Ltd. 1958, p. 24) holds that philosophy in India is neither mere intellectualism nor mere moralism. Its goal transcends both. To him, logic and ethics are, however, the sole means of approach for the realization of the goal. But this view of the learned scholar is not convincing. For, neither morality nor logic can be viewed as means to some transcendent goal. Both the disciplines are free and autonomous. In classical Indian philosophy, *dharma* too is viewed in terms of its independence. It is never a handmaid of theological obscurantism. Theistic doctrines are advanced for the set of people who all at once cannot comprehend the implication of moral discipline. So, in certain cases, spiritual notions are introduced as a mean for moral comprehension which virtually is held as the goal. But it should be noted that morality and spirituality are not necessarily related. So also the case goes with the independent character of logic and reasoning. Revealed text, however, respectable that may be from spiritual angle, must have to be assessed by the canons of independent reasoning. Thousand scriptures cannot change a pot into a piece of cloth.
3. Vide his *Śrīmad-bhagavadgītā* (with Oriya translation, independent commentary (*bhāṣya*) and introduction (*pīthikā*), fourth edition, Cuttack : Sathi Prakashana, 1999.
4. Vide *Ekāmra Purāṇa* where Śiva is identified with Sūrya and there is the prescription of one pair of composite Lord. A temple representing this Cult is located at Bhubaneswar (Bhāskareśwar mandir)
4. *Āpastamba-dharma-sūtra* (Mysore Oriental Library end.), IXXIV. 23.
6. *Ibid.*, I. xx. 3-4.

CAN THERE BE A CHOICE BETWEEN RELIGION OR NO RELIGION

Dr. Kanchan Saxena*

Religion has always been the subject of much controversy. But recently this controversy has become greater. Some say religion is the panacea for all the ills of life. Some say religion serves no useful purpose : it is the opiate of the people, it is a tool in the hands of the higher classes to exploit the mass, to keep them under subjection.

There are two forms of religion; General and Particular or Sectarian. The general concept of religion is based on virtues and values" The right conduct and dutifulness". The word religion in its etymological meaning also stands for the unity and compassion. The very function of religions to unite the persons with their fellow being, with nature and with the divine forces. It is the only sectarian or particular concept of religion which has made the men incompassionate and intolerant towards each other. The term 'General' and 'Particular' were brought into use to make a distinction between the two forms of religion, not to divide human beings with each other.

Today, religion is found as a great social evil and a great danger to world peace and humanity. Religion is so often being misunderstood with sectarian religion that it will be more correct to say that the world religion today stands only and only for its communal nature which has become an instrument in the hands of wicked persons who use it only for their vested interests, exploit

* Reader, Department of Philosophy, Lucknow University.

innocent persons and cash the feelings and emotions of the innocent human beings.

All the living religions of the world today are dividing people and spreading communal hatred and violence, in spite of their role of uniting men with their fellowmen. Religion of the present world are fast losing their religiosity. It seems spirituality has nothing to do with religious. According to Dr. Radhakrishnan, "Religions which are insensitive to human ills and social crimes do not appeal to the modern man. Religions which make for division, discard and disintegration and do not foster unity understanding and coherence, play into the hands of the opponents of religion".¹

Each particular religion defines religion in its own way-in terms of its creeds and dogmas. But such a definition represent a partial aspect of religion-if it does that much even, and in the very nature of things it is not real religion.

Christianity says one thing about religion, Islam interprets it in another way, Buddhism raises an altogether different note, and Hinduism has its own views about it. The result is that those who have little or no interest in religion are in great dismay : they want to keep themselves at a safe distance from any religion whatsoever.² Recent age is an age of science and technology and we can not be called upon to accept incredible dogmas or exclusive revelations. The modern man who ventilate their opinion perhaps talk against religion than for it. They are aggressive in their attitude desiring to suppress or crush religion altogether due to the wrong and incorrect picture of religion But still religion persists. It is changing colours, taking new forms but it is not dead, not it can die.

Religion is an intrinsic element of human nature. It is the differentiating characteristic between men and animal. Religion has been one of the most powerful factor in the human history. In the words of Comte "Religion embraces the whole of existence and the history of religion resumes the entire history of human

development". Religion makes a man hopeful towards a life of peace and eternal bliss. It purifies our instincts and regulate our conduct. Consequently religion can be accepted as a regulating force in the lives of human beings. Prof. E. O. James has rightly said, "At every crisis, personal or collective religion is called in aid to prevent disintegration, strengthen the bonds of human cohesion and cooperation, and sanctifying human life and conduct."³

So, the importance and utility of religion cannot be denied. The question is what kind of religion ? It is a religion of love and brotherhood or power and hate. Secular ideologies ask us to worship wealth and comfort class or nation ? Therefore the question is not religion or no religion, but what kind of religion.

There may be agreement and disagreement regarding the option between religion and no-religion, but there can not be any second opinion regarding the promotion of love, harmony universal brotherhood and world-peace. There may be different ways and views for the same but it is undoubtedly accepted that the eradication of communal hatred, violence and establishment of world-peace cannot be conceived in the absence of world religion or unity of all religions. Galloway has said that "only that religion can be accepted as world-religion which influence the conscience of human being irrespective of the division of class and caste."⁴

As it has been mentioned that the idea of a world-religion and unity of all religions are very much needed for the establishment of peace and harmony at global level. Let us consider the various options available for the creation of world religion or unity of all religions. In this regard three different view have been suggested by the philosophers :

- A. Select anyone religion (Sectarian) of the time as a universal or world religion.
- B. Creation of a new world religion fundamentally different

from all the existing religions of the world.

- C. Creation of a new world-religion on the basis of some common characteristics of all the living religions.

Now, the task before us is to examine all the three possibilities. If we analyse and examine the first view we would find that the followers of all the living religions would like to prove their own religion as the best religion of the world and also as the only deserving religion accepted as the universal religion. In this context I would like to quote the views of some Indian and Western thinkers. For example, W.E. Hocking a Christian thinker has announced that the Christian religion has all the qualities of universal religion and it will definitely play an important role in the eradication of social and religious evils.⁵ George Galloway is also of the same opinion. He said that only three religion of the world deserve to be universal religion. Buddhism, Islam and Christianity, but Christianity is best in comparison to Islam and Buddhism.⁶ Dr. S. Radhakrishnan an Indian thinker in the similar way had tried to prove Hinduism as the best possible example of world-religion. In his book *'Eastern Religions and Western Thoughts'* has presented Hinduism as a universal religion on the basis of its tolerance and generosity.⁷ Further he has tried to prove Vedantic religion as the most important universal religion for the mankind.⁸

Actually, the followers of all the religions accept the supremacy of their own religion and may also claim it as one of the best choice for world-religion and peace. But this situation further dwells us in the state of conflict and communal hatred, so this option can not be accepted on rational grounds.

The second option i.e. creation of a new world-religion is also not convincing to our mind as the creation of such a religion different from all the existing religions will only add a new name in the current list and will not serve our purpose in any way, as it will also create the same problems of communal hatred and

rivalry among the human being. Further, it is also very difficult and impossible possibility that all the existing religions of the world unanimously accept any new religion as world-religion.

As far as the third option is concerned, which is based on the common elements of all the religions, may or may not be willingly and voluntarily accepted by all the religious persons. Having a critical analysis of this view we may say that the theoretical possibility of this view is no doubt feasible but about practical feasibility we may not be very sure. On this particular point philosophers and scholars have two different opinions.

- A. According to the first view this approach can be easily accommodate as faith in the supernatural existence is a common phenomenon of all religions. But having a close observation of this fact leads us towards the conclusion that is also an incorrect and improper view as many religions like Jainism, Buddhism and Confucious religion don't have faith in any super natural power. Consequently it is also neither correct nor acceptable.
- B. The second view regarding the last option is the the idea of world religion on the basis os common characteristics among all religion is based on the value perspective of the religion. Comparatively to the first one this second view it widely accepted and welcomed. The supporters of this view accept moral values and virtues as the common element found in all the religions. They have faith in the equality of all religions. Swami Vivekanand has said, " All evils come relying on difference. All good comes from faith in equality."⁹ The frontier of this view also opined that till the absence of ethical character no religion can be survived. So, we must accept the idea of world religion on the basis of moral character of religion.

The opponents of this view have rejected this idea by saying that these moral virtues and values can be accepted without being

religious as morality is independent from religion. They further claim that his interpretation of world-religion may be the definition of universal morality but not of the universal religion. According to them faith in the supernatural power and religious rituals are the necessary components of religion, in the absence of these religion will lose its originality, peculiarity and dignity.

My observations regarding the possibility of world-religion and peace is some how affirmative and based on a positive approach towards the religion. This approach in its essential nature is ethical and value based. Hoffding has rightly defined, "religion as a faith in the conservation of values."¹⁰ I think no religion can survive in the absence of virtues and values. According to Prof. Flint, "there can be no religion where feeling and affection are not added" "Mathew Orndal has also defined, "religion as morality touched with emotions" The ethical or the moral aspect of all the particular religions can be accepted as a uniform or common characteristic of all religions. We have seen earlier that the opponents of this view have rejected this idea on two grounds: one is that morality is independent from religion and the other is that morality based concept of world-religion can be treated as world-morality not as world-religion.

As a response to these objections I would like to mention three arguments in support of my thesis :

1. Firstly, if the spiritualistic and ritualistic part of religion creates hatred, violence and conflicts among the human beings and is a danger to world-peace and unity, we should outreadly reject this. We have to seriously think whether; 'Theistic and ritualistic religion is acceptable at the cost of world unity and peace ?
2. Secondly, if morality based world-religion is treated only as world morality, then I would like to prefer the practice of this kind of religion without assigning any name to it or call

it simply as humanitarian religion not the humanistic religion.

3. Last, but not the least that the other suggestions for the possibility of world-religion given by various philosophers and religions thinkers are based on "Respect towards all the religion" and the Religious tolerance are also virtues and values based resolutions for the problem of religion and world-peace.

Consequently, it would be well-accepted and welcomed concept of the world-religion for the promotion of peace and harmony at the global level and to unite the people worldwide.

References

1. Radhakrishnan, S. *Indian Religions*, p.8.
2. Swami Pavitrananda; *Modern man in search of Religion*, p. 61.
3. Zames E.O., *History of Religions*.
4. Galloway, G; *The philosophy of religion* PP 138 and 147.
5. Hocking, W.E. *Christianity and the faith of the coming civilization*, Tibbert Journal, Vol.-54, 1955-56 p. 346.
6. Galloway, G; *The philosophy of religion*, pp 146-147.
7. Radhakrishnan, S.; *Eastern religions and western thoughts*.
8. Radhakrishnan, S; *The Hindu View of life*, p. 23.
9. Swami Vivekanand, *Caste, Culture and socialism* pp. 12,13.
10. Hoffding, *The philosophy of religion*.
11. Flint, *Theism*, p.2.



THE INFLUENCE OF JAINISM ON AKBAR, THE MUGHAL EMPEROR

Nirmala Gupta*

Akbar, the great Mughal ruler, was born in Amarkot of Sindh. He was a mixture of three distinct stains of foreign blood, the Turk, the Mongol and the Persian, who changed the course of history. A great man, of great age, who believed in the sanctity of all the religions. He was a liberal and a tolerant king and the originator of Indo-Muslim culture, which reached to its zenith in his regime. He believed in the theory of "No worship of God is equal to the service of Mankind." Akbar, with his deep interest in comparative religion, was naturally anxious to know the principles and doctrines of Jainism. For many years he felt the insufficiency of Islam for being a national religion of India with its vast Hindu population. Struggling through the conflicting opinions that he received from the leaders of various faiths, whom he summoned to his Ibādat Khānā at Sikri, Akbar reached to the conclusion that every creed had something to teach and that the spiritual doctrine is one that is based on rationalism. His sensitive and inquisitive nature, his great legacy, Indian circumstances and his matrimonial alliances with the Hindu-princess, had great effect in shaping his religions and secular policies. Moreover, for this purpose, he made a clear and careful examination of all the doctrines, Hindu, Jaina, Zoroastrian, Christianity and Islam. He had a firm belief that all the religions of the world teach something new and lead to some goal. He had acquired good knowledge by listening the religious discourses in the religious assembly. He showed equal favour and

* Reader in History, M.M.V., B.H.U., Varanasi.

intimacy to all the religious sects. Du Jarrie writes; "Every one believed that the King was on his side." So was the case with the Jaina *Gurus*.

Agra was the centre of Jainism. So he came in contact with the Jaina *Gurus*. The Emperor's relationship with the ruling house of Amber and his earlier pilgrimage to Ajmer gave him an opportunity of coming in contact with Jaina Ācāryas of Gujarat. His contact with the Jaina religious leaders, which was established in 1582 and lasted for over twenty years, profoundly affected the policy of the Emperor, whose successive orders in support of the Jaina doctrine of *ahimsā* and against the destruction of animal's life reminds us of the rock-edicts similar lines engraved 1800 years before him by the great Buddhist Emperor Aśoka. The first recorded Jaina scholar at his court is said to have been one Buddhi Sagar of Tapā-Gachha, who had a religious disputation with Sadhu Kirti; another Jaina scholar of Kharatara-Gachha and a disciple of the more celebrated Daya Kalasha in 1568 A.D.; a third Jaina teacher of that period acquainted with Akbar was Padma Sundar of Tapā-Gachha¹. So, it is easy to conclude that Akbar must have come into touch with Jaina scholars before 1568. Abul Fazl also testifies to the presence of Jaina Sewaras or Śvetāmbara and *Yatis* (Jaina hermits) in the religious assembly hall during the years 1578-1579.²

In 1582, soon after the Kabul expedition, Akbar ordered Shihauddin Ahmad Khan, the then Viceroy of Gujarat, to send Hira Vijay Suri, of whose severe penances, holiness and learning he had heard.³ Hira Vijay Suri visited the royal court with much hesitation. He looked upon the events as they were likely to be of benefit for the Jain religion and community. On the way he was given grand welcome and was presented with large funds, palanquins, horses, elephants and other objects of comfort for him and his party. He sent some of his disciples headed by Vimal Harsha Upadhyaya to Fatehpur Sikri. Later on, he granted leave to Vijaya Sen Suri, his

chief disciple to go back to Kāthiawar to carry on his duties in his absence.⁴ The famous Guru reached Sikri on June 7, 1583, with sixty seven monks, and was taken in a procession to the Jaina *Upāsraya* in the town. Hira Vijay Suri first visited Abul Fazl and then was introduced to Akbar, who was profoundly struck by his learned discourses.⁵ Abul Fazl made a careful study of the doctrines of the Sewaras or Śvetāmbara Jains, but was unable to obtain equally satisfactory information about the Digambara or Nude Sect.⁶ The Jain leader remained in constant touch with Akbar for about two years until his departure from the court in 1585. Akbar thus acquired a first hand knowledge of Jaina doctrine, rites and festivals. He was so much influenced by the character and personality, learning and saintliness of Suri that he bestowed upon him the title of '*Jagat Guru*' or World Teacher.⁷ His name has been among twenty one first rate scholars and thinkers of Akbar's court who were supposed to know the mystic rise of both the worlds. The Emperor pressed him to ask for a boon. He appealed to the Emperor, to cultivate non-injury (*Ahiṃsā*) to living beings and to show compassion to animal life,⁸ to release prisoners and caged birds and to stop killing of animals consequently. Akbar released many prisoners and issued *farmans* prohibiting animal slaughter for twelve days every year during the Jaina festival of Paryūṣaṇa in six, out of twelve provinces of the empire, where the Jains lived. This *farman* was issued, in June, 1584. He also issued orders confirming the abolition of jeziya and pilgrim tax, both for Hindus and Jains, in Gujarat and Kathiawar. The disobedience to this order was made a capital offence.⁹ An inscription in Prakrit on the porch of Ādiśwara temple on Shatrunjaya hill at Palitana, dated 1593-94, records the achievements of Hira Vijaya Suri, while he was at the imperial court.¹⁰ It is also said that after the death of Guru Hira Vijay Suri, Akbar granted several *bighās* of land for the erection of *stūpa* in memory of the deceased leader.¹¹

The other important Jaina monk, named Shanti Chandra,

stayed at the imperial court. He composed a panegyric on Akbar, describing the Emperor's pious works done under the influence of Hira Vijay Suri, called '*Kriparasa-Kos*'. Shanti Chandra left the court in 1587. Akbar granted him a *farman* again confirming the abolition of jeziya and prohibiting animal slaughter on the specific days.¹² In 1590 a *farman* was issued to Governor of Gujarat that no one should be permitted to interfere with Jaina temples and no non-Jaina should lodge in them. It further says that there should be no hindrance in the way of their repairs and that no one should ill-treat the Jains under the wrong notion that they practised magical art.¹³ IN 1592, he issued another *farman*, for Hira Vijaya Suri, addressed to the governors of Malwa, Agra, Lahore, Multan, Ahmedabad and all the rest of the provinces to the effect that the hills of Siddhachal, Girnar, Taranga, Keshrinath and Abu (all in Gujarat), the five hills of Rajgir and the hill of Sammet-Sikhar or Parswanath in Bengal, together with all the temples and *kothīs* at the foot of these hills and likewise in other places of pilgrimage of the Śvetāmbara Jains should be handed over to them.¹⁴

When a daughter was born to Prince Salim, Akbar was told that the constellation under which she was born augured ill for their father. Bhanuchandra suggested the performance of certain Jaina rituals which would effectively avert the evil. Accordingly, elaborate arrangements for the same were made at the Jaina *upāśraya*, and the ceremonies were witnessed by the Emperor and prince Salim, who both attended with the members of the court. Another incident mentioned in the Jaina poem in that Akbar desired to have the title of 'Upādhyāya' bestowed on Bhanuchandra, but being told that the privilege of granting the same was vested in the head of the Jaina church, Abul Fazl was ordered to write to Hira Vijaya Suri to confirm and make valid this title, and the *ācārya* willingly sent a letter to the effect. When Akbar went to Kashmir in August, 1592, Bhanuchandra accompanied him on feet, and it was at Shrinagar that he requested the Emperor to remit the tax on

pilgrims visiting Mount Shatrunjaya. Such was the imperial esteem for the Jaina-teacher that Akbar made a special halt for three days when crossing the Pir Panjal pass to enable Bhanuchandra, whose feet had get in flamed during the journey, to recover.¹⁵ Some details of Bhanuchandra's stay at Akbar's court are given in the Jaina biographical poem, called '*Bhānucandra Carita*,' written by his disciple Siddhichandra.

Akbar extended his favours equally to the leaders of the Kharatara Gaccha sect also. In 1591, he invited Jinachandra Suri, the head, to come to the court through Karam Chand, a minister in Bikaner state. The reputation of his learning and erudition, asceticism and saintliness spread to the most of the part of the country. Jinachandra accepted the invitation and reached Lahore on 14th Fe. 1592. Thirty one monks accompanied him, prominent among whom were Jaya Soma and Kanak Soma, and many others. He was given a royal welcome, on behalf of Akbar, by the Jaina community and the public of Lahore. Mahim Raj, the notable Follower of this sect, in cooperation with Karam Chand, tried to make his reception as magnificent as it could be, Akbar was profoundly struck by his religious discourses. During his one year's stay at Lahore, the *Guru* came into close contact with Akbar and explained to him the meaning and significance of Jainism in general and that of Khartara Gachha in particular. When Jinachandra Suri came to know about the demolition of Jaina temple at Dwarka, he brought this grievance to the Emperor's notice and secured from him an order for the protection of Jain temples and places of pilgrimage. Before starting on his second expedition of Kashmir in August, 1592, Akbar issued, at Jinachandra's request, a *farman* to all the provinces of the empire prohibiting the slaughter of animals for seven days every year from 9th of the bright half of the month of *Āṣāḍha* to the 15th.¹⁶ It was at the personal request of his follower, Karam Chand, that Akbar made over to him, about a thousand metal images of Jaina

Tīrthaṅkaras that Tarsum Khan had seized at Sirohi in 1577. On his personal request, the Emperor ordered the Governor of Gujarat for the protection of Jaina temples and places of pilgrimage in that province was also complied with.¹⁷ After returning from Kashmir, in 1593, Akbar conferred on him the high sounding title of 'Yuga-pradhāna' (Lord of the age). This occasion was celebrated with pomp.¹⁸ An inscription in a temple on Shatrunjaya hill confirms the grant of this title and the concession made by this *farman*.¹⁹ It is also surprising that the name of Jinachandra Suri is not mentioned in the list of scholars and saints of Akbar's reign in the *Ainc Akbari*.²⁰

It seems that the triumph and influence of Khartara Gachha in the Mughal court was not relished by his principal pontiff of rival Tapā Gachha. That is why Hira Vijaya Suri deputed his ablest disciple Vijaya Sen Suri. It was expected that he will re-establish the sect in the estimation of Akbar. He was not a good organizer, but under his inspiration a series of Jaina temples was built. According to the instruction of his *Guru* he set out for Lahore accompanied by 100 Monks. He reached Lahore in 1593, May 31 and was cordially received by the Emperor.²¹ He stayed in the Mughal court for two years, and must have held many discussions with Akbar. Akbar was impressed and he conferred him the title of '*Kali Saraswatī*'.²²

It is said that the influence greatly exercised by the Jaina monks made the Brahmins jealous. Therefore, they with the help of Raja Ramdas of Amber charged them with disbelief in God. At last this problem was to be solved under the auspices of Abul Fazl and the Jaina Ācārya. They made it clear that the Jaina conception of Godhood was like the one expounded in the famous Sāṃkhya philosophy of Hindus.²³ One of the disciples of Vijaya Sen Suri was Nandī Vijaya, who was given the title of 'Khush-Faham'.²⁴ Due to the serious illness of his *guru*, Vijaya Sen Suri, Nandī Vijaya had to leave the royal court. But, before leaving the court he was

able to induce Akbar to issue orders prohibiting the catching of the fishes in the Indus river for four months.²⁵

Some of the prominent Jaina monks continued to reside at the court after the departure of Vijaya Sen Suri to Gujarat. Bhanu Chandra continued to be a constant companion of Akbar until the latter's death in 1605. Another famous Jaina monk Siddhi Chandra stayed at the court and wrote many Sanskrit works, including the well known '*Bhānucandra Carita*' which throws welcome light on the aspect of Akbar's court life. He studied Persian at the suggestion of Akbar, so that he could read the religious and secular literatures of Persian. It is also said that after his recovery from serious illness, the Emperor distributed 500 cows as a charity to the Jaina monks. But, Abul Fazl speaks of various kinds of charity and does not specifically record the giving away of 500 cows.²⁶ It is also believed that the two Jain Monks, Bhanu Chandra and Siddhi Chandra, accompanied the Emperor on his third visit to Kashmir in May, 1597. They also joined Deccan expedition and the siege of Asirgarh. According to Jaina accounts both, Bhanu Chandra and Siddhi Chandra, went with Akbar to Burhanpur, finding no Jaina shrines in the city. The two monks obtained the Emperor's sanction for their erection, with the result that many temples and *upāśrayas* were constructed by wealthy Jains.²⁷ It is also said that when Siddhi Chandra came to know about the demolition of Jaina temples at the foot of Mount Vimala (Shatrunjaya), he at once proceeded to Akbar, and succeeded in getting imperial orders issued for preventing the sacrilege. It is also said that when Vijaya Sen Suri came to know that no new temple could be erected on the hill of Shatrunjaya, he wrote a letter to the *Upādhyāya* pointing out that if this state of affairs continued, the hill held so sacred by the Jains would have little significance for the community in future, "For the old temples would crumble down with the lapse of time and no new ones would take their place." Bhanu Chandra and his disciple, thereupon, both approached the Emperor, and induced

him to send forth orders allowing the erection of new temples on the hill.²⁸ At the time of Akbar's death both, Bhanu Chandra and Siddhi Chandra, were present at the court at Agra.²⁹

The long inspiring contact with the Jaina monks, which had begun in 1568 or even earlier, lasted till the death in October 1605 a period of 37 years during which Akbar always had some Jaina scholar or other at his court. There is no doubt that in their company Akbar acquired adequate knowledge of Tapā Gachha and Kharatara Gachha sects. The everlasting influence of Jainism on Akbar can be seen in issuing the royal *farmans* for the safety of Jaina temples and Jaina monks. The extraction of jeziya was also abolished. The principle of *Ahimsā* had an abiding effect on his life. There is no doubt that it was under the influence of the great Jaina leader that Akbar practically gave up his favourite sport to which he was deeply attached and gave up non-vegetarian food. Jahangir writes, in his autobiography, about the austerities practised by his revered father. Out of which one was the non-eating the flesh of animals. He writes : "During three months of the year he ate meat, and for the remaining nine contended himself with Sufi food, and was no way pleased with slaughter of animals on many days, and in many months this was forbidden to the people."³⁰ Badaoni also writes : "His majesty abstained altogether from meat, as a religious penance, gradually extending the several fasts during a year over six months and even more, with the view of eventually discontinuing the use of meat altogether."³¹ Abul Fazl also supports this view and says : "If His Majesty had not the burden of the world on his shoulders, he would at once totally abstain from meat."³² Akbar himself used to say that in his childhood he found that meat preparations were tasteless. "I took this to indicate a necessity for protecting animals, and I refrained from animal food."³³ Abul Fazl also gives details of the stringent orders that the Emperor promulgated early in 1581, in which killing of animals were prohibited. He further says that these ordinances were not obligatory, but the

Emperor tried to follow them personally, and some other persons, who liked to please him, followed his footsteps.³⁴

The history of the Jaina mission at the Mughal court leaves little doubt about the profound influence on Akbar's ideas and domestic policy exerted by the doctrine of *Ahimsā*, mainly inspired by Jains. It is also fair to say that the belief and practices of Akbar were not influenced by Jainism alone, but Hinduism had an undoubted share.

References

1. A.L. Srivastava, *Akbar the great*, Vol. I, p. 243-244
2. Abul Fazl, *Ain-e-Akbari*, Tr. Eng., Vol. III, Jarrett and Sarkar, Cal., 1948, p. 253.
3. *Ain-e-Akbari*, Vol. I, p. 608.
4. Proceedings of Indian History Congress, Cal., 1939, p. 1061, Foot 4.
5. *Ibid*, p. 1061-1062; M.S. Commissariat, *A History of Gujarat*, Vol. II, 1957, p. 229-230.
6. *Ain-e-Akbari*, Vol. III, p. 210.
7. Commissariat, Vol. II, p. 231.
8. *Ibid*, p. 231.
9. Smith, *Akbar*, p. 167.
10. J.M. Shelat, *Akbar*, Bombay, 1964, p. 235.
11. *Bhānucandra Carita*, Ed. Mohanlal Desai, (Sindhi Jain Granthamala) introduction.
12. Srivastava, *Akbar*, Vol. I, p. 246; Commissariat, Vol. II, p. 232, Fn. 8.
13. *Ibid*, p. 246-247; *Ibid*, p. 232-233.
14. *Ibid*, p. 233-234; PIHC, 1939, p. 1062-1065.
15. *Bhānucandra Carita*, Introduction, p. 30, 33, 36-37.
16. Srivastava, *Akbar*, Vol. I, p. 366.
17. *Ibid*, p. 366.
18. *Bhānucandra Carita*, p. 31, fn. 38.
19. Shelat, *Akbar*, p. 225-226.
20. *Ain-e-Akbari*, Vol. II, Tr. Jarrett and Sarkar, Cal., 1949, p. 236-237.
21. Commissariat, Vol. II, p. 236-237.
22. *Indian Antiquary*, Vol. XI, 1882, p. 256.

23. Commissariat, Vol. II, p. 237; Srivastava, *Akbar*, Vol. I, p. 368-369]
24. *Ibid*, p. 237.
25. Srivastava, *Akbar*, Vol. I, p. 368.
26. Abul Fazl, *Akbarnama*, Vol. III, Tr. H. Beveridge, p. 713; *Bhānucandra Carita*, Introduction, p. 42 and note 59.
27. Commassariat, Vol. II, p. 240.
28. *Bhānucandra Carita*, Introduction, p. 43-45 and notes.
29. Srivastava, *Akbar*, Vol. I, p. 369.
30. Jahangir, *Tuzuk-e-Jahangiri*, Tr. Roger and Beveridge, Vol. I, p. 45.
31. Abdul Qadir Badauni, *Muntakhab-ut-Tawarikh*, Vol. II, Tr. Lowe, p. 331.
32. *Ain-e-Akbari*, Vol. I, Tr. Blochmann, p. 64-65.
33. *Ibid*, Vol. III, Tr. Jarrett, p. 446.
34. *Akbarnama*, Vol. III, Tr. Beveridge, p. 333-334.



THE CONCEPT OF MIND IN WON-BUDDHIST PHILOSOPHY AND YOGA

Prof. Soon-Keum Kim*

Here, I would like to discuss a comparative work between the two traditions, Yoga and Won Buddhism with regard to the concept of mind (*Citta*). Since Yoga Philosophy lays a special emphasis on the function of mind amongst Indian philosophical tradition. I think that this is somehow a spontaneous manner in terms of different stages of attainment as one gradually goes up to one's own true nature. The philosophy of Won-Buddhism in Korea gives much stress on the function of mind as well in some other aspects. One must scrutinize one's action or reaction of mind in response to mental sphere in every moment, so that he can train oneself to lead the way of path to become a living Buddha in daily lives. I will introduce a short history of Won-Buddhism at first. Doctrine of Won-Buddhism, the concept and function of mind in Won-Buddhist philosophy, the concept and function of mind in Yoga Philosophy, and finally a different viewpoints of the two in regard to the function of mind will be followed.

1. Short History of Won-Buddhism

Won-Buddhism is one of the most active new religions of Korea. As its name indicates, it has close ties to Buddhism. It also differentiates itself from traditional Buddhism in certain aspects

* Dept. of Korean Culture, Head of Yoga Studies in Graduate Course, Wonkwang University, Korea

while the founder of Won-Buddhism, Sot'aesan, regraded Śākyamuni Buddha as "the sage among sages" and the "fountain-head" of his new religion, he strongly denounced some aspects of Korean Buddhist practices.

The founder of Won-Buddhism is park Chung-bin(1891-1943). better known by his Dharma name, Sot'aesan. In his boyhood and into his early adulthood, Sot'aesan had many spiritual questions, which his confucian schoolmaster was unable to answer. Sot'aesan's inability to find a teacher who could answer his questions was a recurring theme into his early adulthood. He even sought the help of Mountain Spirits for five years, but to no avail. According to the History of Won-Buddhism, "During his search for religious *guru*, he encountered Taoist sages, Śamaṇas and other religious figures," but could not find an appropriate spiritual master."

Sot'aesan decided to give up the search and practice meditation without guidance from any particular teacher. After four years of self-guided meditation that was very much ascetics in nature, he finally realized enlightenment on April 28, 1916.

The beginning of Won-Buddhism as a religious movement is very unique. According to the tradition. Sot'aesan started his religious movement with a community-based farm project, known as the "Embankment". In 1918, Sot'aesan organized his community to portion off a large area of brackish tidal land near the southwestern coast of Korea and turn it into fields. After a year of work, the project was finished. This gave solidarity to the new followers and also would provide revenue to the organization in times to come.

Today, Won-Buddhist mission teaches several foreign countries all over the world. There are 22 Won-Buddhist temples in USA, 12 in Europe, 6 in Japan, 8 in China and 1 in Nepal as well.

2. Doctrine of Won-Buddhism

A central doctrine of Mahāyāna Buddhism is the idea of *tathāgata-garbha* (Tathāgata's Womb), which says that all sentient beings intrinsically have Buddha-nature. Buddha nature here is understood as the ultimate truth, the ground of being.

Won-Buddhism calls this Buddha-nature Irwon (perfect roundness). Irwon is nothing other than the Dharmakāya Buddha as the basis of our nature. While we are all inherently Buddhas, there are very few who actualize this. Hence Buddhist cultivation is needed to actualize what we already are. We do not merely follow the teachings of the historical Buddha but attempt to awaken ourselves, thereby becoming Buddhas ourselves. Past and present religious teachers or founders are merely those who guide us in finding our own true nature.

The purpose of Buddhist practice according to Sot'aesan is with every action to "bow" to and worship the essence of what we already are, to our Buddha-nature, of to what Won-Buddhism refers to as the Dharmakāya Buddha within us. The round symbol in Won-Buddhism is a tangible means of worshipping Buddha-nature, the nature of reality and our own nature as well.

The doctrinal system of Won-Buddhism, which reveals how to carry out the essential ways of human life and practice, aims to build a vast and immeasurable paradise through the four principles, right enlightenment and right practice, awareness of grace and requitals of grace, practical application of the Buddha-dharma, and selfless service to the public.


1. The main doctrine of irwon, the Dharmakāya Buddha, consists of the Gateways of Faith and Practice. The Fourfold Grace and the Four Essentials lead followers through the Gateway of Faith based on retribution and response of cause and effect. The threefold Study and the Eight Articles lead

followers through the Gateway¹ of practice based on true voidness and marvelous existence.

2. The Gateway of Faith based on retribution and response of cause and effect has its essential principles gratitude to the Fourfold Grace of heaven and earth, parents, fellow beings, and laws, which are the tangible reality of irwonsang, the Dharamakāya Buddha. In addition, as a principle it holds to create a peaceful and joyful world by carrying out the Four Essentials. This ultimately shows the way to a world of equality : developing Self-power, the wise one first, educating other's children, and venerating the public spirit. These principles are considered the essential ways of human life because they are necessary to follow along the path of life as a human being.
3. The Gateway of Practice based on true voidness and marvelous existence reveals the way of study and resembles the model of irwonsang, the Dharmakāya Buddha. The Eight Articles : practicing belief, zeal, questioning, and dedication and abandoning unbelief, greed, laziness and foolishness, are the fundamental force driving the Threefold Study : cultivating the spirit, inquiry into human affairs and universal principles and choice in action.

These are the way of practice to lead the Won-Buddhist to Buddha-hood. These principles are considered the essential ways of human practice because they are necessary for all people to follow along the path of religious practice.

The Great Master Sot'aesan, proclaiming the Doctrinal Chart as follow.¹

Awareness of Benevolence and Gratitude		Right Enlightenment and Right Practice
The Way of Faith based on Cause and Effect Reward	Irwön is Dharmakaya Buddha; it is the original source of all beings in the universe; it is the mind-seal of all Buddhas and sages, and it is the original nature of all sentient beings.	The way of Practice based on True Emptiness and Marvelous Existence
Fourfold Benevolence		Threefold Practice
Benevolence of Heaven and Earth Benevolence of Parents Benevolence of Brethren Benevolence of Law		Mental Cultivation Inquiry into Facts and Principles Mindful Choice in Action
Four Essentials		Eight Articles
Cultivation of Self-reliance The Wise One as Standard Education of the Children of others Veneration for Those Dedicated to the Public	Verse on Truth	Faith, Zeal, doubt Sincerity Unbelief, Greed, Laziness, Delusion
Gratitude as Offering to Buddha	Being turns into non-being and non-being into being, turning and turning to the ultimate; then, Being and non-being are both void, yet the void is also complete.	Practice of Sön in Motion and at Rest
Everywhere the Image of Buddha Every Act as offering to Buddha		Timeless Sön Placeless Sön
Selfless Service for the Public	The Doctrinal Chart	Practical Application of Buddha Dharma

3. The Concept and Function of Mind in Won-Buddhist Philosophy

To practice Threefold Practice and Fourfold Beneficence, Won Buddhism stress on practicing training of mind, which is the most important way to lead the awakening life in daily experience. Won-Buddhist philosophy categorizes mind sphere under the three stages of being; nature, spirit, and mind. Nature is equivalent in meaning to Puruṣa. We can find many of the same concept in Won-Buddhist canon as follows.

The Great Master said, "Originally, human nature contains no good or evil elements..... is perfect and complete, utterly impartial and selfless"² "When the nature of a person is in a state of being quiet, neither good nor evil exist. Once the nature of a person is stirred or agitated it becomes either good or evil."³ "We call our human nature a Mind-field, because the occurrence of good or evil in our mind, in which originally no sense of discrimination or attachment abides, is just like the growing of crops or weeds in a fields..."⁴

The observation shows that there is hardly no differences between Nature in Won Buddhism and Puruṣa in Yoga. Spirit is relating to doer of one's action. The Great Master said, "We need clothes, food and shelter for our physical life, but concentration, wisdom and practice are more important because the spiritual life controls our physical lives..."⁵ "Having been attracted by these dazzling materials, our spirit becomes extremely feeble, losing dominance over and becoming the slave to material things..."⁶ "The most effective ways to attain the power of cultivating spiritual stability through motion and quietness are, first, while you conduct yourself, do not commit yourself to such things as will disturb your spirit or rob you of it."⁷

Reaching a conclusion that spirit as actively subjectivity and has a attribute of mind as well. The Great Master says, "You disciples, therefore, enlighten yourselves again and become the

master of all Law by learning diligently how to use your minds"⁸ "Our mind realm is originally serene, peaceful, bright and clear, but the troops of selfish desire make the mind realm dark, impure, complicated, confused and almost without peace for eternity."⁹ The way of practicing mind for Won-Buddhist indicate in terms of 'The Essentials' of daily practice as follows.

1. The mind-ground is devoid of disturbance by nature, however, disturbances arise in response to mental spheres; hence, let us nourish the calmness of self-nature by keeping disturbances from arising.
2. The mind-ground is devoid of delusions by nature; however, delusions arise in response to mental spheres; hence, let us brighten the wisdom of self-nature by keeping delusions from arising.
3. The mind-ground is devoid of evil by nature; evil arise in response to mental spheres; hence, let us observe the precept of self-nature by keeping evil from arising.
4. Remove unbelief, greed, laziness, and delusions by means of faith, zeal, doubt, and sincerity.
5. Let us change the life of resentment into the life of gratitude.
6. Let us change the life of dependence into the life of self-reliance.
7. Let us change those unwilling to learn into those who learn well.
8. Let us change those unwilling to teach into those who teach well.
9. Let us change those who do not have a public spirit into those who have it.¹⁰

We can see that mind-field should be nourished, brighten, and observed, for the purpose of maintaining it completely. One must remove the adverse reactions (unbelief, greed, laziness, and delu-

sions) and change the negative points into the positive ones according to Won-Buddhist teaching. It means that a mind should be kept in a state of its own nature, if not, one must try to keep it in three states of mind. To maintain mind one should be able to remove the adverse reactions as well as change them into an ideal side according to the principle of Won-Buddhists. This fact presents a fundamental theory of mind-function in Won-Buddhism which is different from the one in Yoga.

Sot'aesan shows that one should endeavor to learn what one does not know from the wise one everywhere and every time. It guides us to the path of way to enlightenment and brighten wisdom step by step. One's mind being in the realm of which no difference between good and evil. But one's mind emerges in range from good to evil depending on the circumstances of occurring the mind. Since one must feed the seed of mind to developing good side from unbelief, greed, laziness, and delusions to faith, zeal, doubt, sincerity.

One can enjoy one's daily life as a living Buddha through the turning and turning towards states of perfection according to the teaching of Sot'aesan, developing constantly the process of making one's mind in perfect like Irwonsang. Every transformation of action and turning process is being affected how to function one's mind in every moment.

4. The Concept and Function of Mind in Yoga Philosophy.

While Sāṃkhya philosophy assigns three functions to the mental bodymind (*mana*), intelligence (*buddhi*) and false knowledge (*mithyā-jñāna*). Vedānta adds a fourth element to this *citta* or conditioned consciousness. But ancient Yoga teachers collapse the category of the mental body with the mind and assign intelligence and false ego as aspects of that mind with the *citta* denoting the various states of the *mana* or mind. Yoga likens *mana* and *citta* with a lake, which is essentially calm and peaceful but whose basic tranquility is obscured by various insubstantial surface

waves. According to the philosophy, there are only two ways of disturbing this serenity and engendering patterns of thought through sense perceptions (*pramāṇa*) and when our memory (*smṛti*) gets triggered off.

Depending on the degree of distraction, Yoga philosophy categorizes the mind under five stages of being: *Kṣipta* or disturbed, *Mūḍha* or stupefied, *Vikṣipta* or distracted, *Ekāgra* or concentrated and *Niruddha* or the absolutely balanced state of mind.

The five Modifications of the Mind

The Yoga system categorizes the *vṛttis* or forms of thought into five sections : comprehension or *Pramāṇa*, misapprehension or *Viparyaya*, conceptualization or *Vikalpa*, deep sleep or *Nidrā* and memory or *Smṛti*.

The relationship between the Puruṣa and the *ahaṅkāra* has been brought out in a simile by the Sāṅkhyaits as the between the lame (spirit) and the blind (body), the former riding on the latter. While the Puruṣa (*ātmā*) is the rider and the guide with vision, the body (*ahaṅkāra*) is the ridden, the beast of burden. The latter is for the former and not the other way. The aim of one's life is to proceed to ātmahood gradually discarding the ahaṅkārahood which is the human destiny. To effect such a separation of physical from the spiritual, mind plays an important role. Thus it is an instrument essential for reaching the final spiritual state though ultimately it is to be discarded.

As opposed to this are the material -derived entities like external sense organs. These sense organs as well as the inner sense serve as instruments of perception. The external sense organs with their data from the external world transmit the impressions to the inner sense and from there they are conveyed to the self. Similarly for the internal experiences (psychological) the instrument is the inner sense from where the impressions are relayed to the Self. Self is thus the perceiver, cognizer, integrator of all impressions, a

thinker and a controller. Thus mind itself is allocated the role of a tool or a instrument without the final function of perception, thinking controlling and so on.

In Yoga philosophy the term *citta* is used to denote the mind and *buddhi*. The *vṛttis* are the disturbances that the mind is subjected to the ideas thoughts and other forces of the mind. 'Vṛtti' literally means whirlpool and *nirodha* signifies restraint or control.

The Yoga recognize three types of concentration. Concentration of a passionate type as when fighting a mortal enemy-*kṣipta* (wild); by an ignorant attachment or by instinct (*pramūḍha*); short term momentary type called *vikalpa*. In contrast to these three, there is one-pointed concentration (*ekāgra*) on an object for a long time which can advance to a stage of *nirodha* (cessation of objects or *vṛttis*).

Yoga refers to an important characteristic of mind. It sometimes tends towards good and sometimes towards bad-liberation and *saṁsāra* respectively. It is like a river-which flows both ways towards ill as well as towards good. The teleology principle of material Prakṛti is to produce both these in man. The good part is never lost as it is mind's innate tendency to enjoy pleasures of life. This holds the key to yoga ethics that the desire for liberation is not motivated by any hedonistic (pleasure seeking) tendency but an innate tendency to take the path to liberation. It indicates that the individual has an innate power *śakti* stored up in the *citta* and one has to use it in such a way to lead on to the path of *śreyas*-good. This is the ultimate spiritual goal. (Das Gupta, 1969).

Conclusion

The concept of mind has been capturing in Indian philosophy since Vedic thinkers. Indian philosophy besides alluding to the nature of *manas*, its uses and abuses, treats it as an important investigative or a probing tool of the inner world of man. However the concept of mind reaches the acme of philosophical interest in Śāṅkhya and Yoga.

Mind is material in nature and serves as an instrument for external as well as internal sensations but the self is the ultimate substrate of knowing in Yoga. In Yoga philosophy the term *citta* is used to denote the mind and *buddhi*. The '*vṛttis*' are the disturbances that the mind is subjected to : the ideas, thoughts and other forces of the mind. '*Vṛtti*' literally means whirlpool and '*nirodha*' signifies restraint or control. Thus mind itself is allocated the role of a tool or an instrument without the final function of preperception, thinking, controlling and so on.

As such Won-Buddhist philosophy takes the mind as the role of a tool or instrument without which the final goal of becoming a living Buddha, but to no avail. However the way of controlling the mind is different from the Yoga philosophy. We can see that mind-field should be nourished, brighten, and observed, for the purpose of maintaining it completely, one must remove the adverse reactions (unbelief, greed, laziness, and delusions) and change the negative points into the positive ones in Won-Buddhism. It means that mind should be kept in a state of it's own nature, if not, one must try to keep it in three states of mind. To maintain it one should be able to remove the adverse reactions as well as changes them into an ideal side according to the principle of Won-Buddhists. This fact presents a fundamental theory of mind-function in Won-Buddhism which is different from the one in Yoga. Yoga is rather suppression or restraint of mind (*yogas-citta-vṛtti-nirodha*).¹¹

The 21th century is the information age. The information age will be advanced through information, that flowing among people. One who lives in information age needs to share the information and knowledge. Mind plays key factor in getting the knowledge and information, and absorbing them as well as developing and cultivating them.

Sot'aesan shows that one should endeavor to learn what one does not know from the wise one everywhere and every time. It guides us to the path of way to enlightenment and brighten wisdom step by step. One's mind being in the realm of which no difference

between good and evil. But one's mind emerges in range from good to evil depending on the circumstances of occurring the mind. Since one must feed the seed of mind to develop good side from unbelief, greed, laziness, and delusions to faith, zeal, doubt, sincerity.

One can enjoy one's daily life as a living Buddha through the turning and turning toward states of perfection according to the teaching of Sot'aesan developing constantly the process of making one's mind in perfect like Irwonsang. Every transformation of action and turning process is being affected how to function one's mind in every moment.

References

1. The great Master Sot'aesan, proclaiming the Doctrinal Chart in February of Won-Buddhist year 28(1943) said : "The essence of my doctrine is all here in this Doctrinal Chart." The Doctrinal Chart is a condensed illustration created to present the essential doctrine of Won-Buddhism clearly. Irwonsang, the Dharmakāya Buddha, is the main teaching of Won-Buddhism and allow us to obtain self-power and power from others through a harmonized balance of faith and practice.
2. II. *The Discourses of The Great Master*, Section 3. On Moral Practice 30, "The Scripture of Won Buddhism (WON PULKYO KYOJUN) the following will be as WPK app 151-152. The gothic is mine.
3. II. *The Discourses of The Great Master*, Section 7. The Principle of the Original Nature 2. "The Scripture of Won Buddhism. WPK. p. 251. The gothic is mine.
4. II. *The Discourses of The Great Master*, Section 3. *On Moral Practice* 59. WPK p. 170.
5. Section 2. *On Doctrine* 19. WPK. p. 112.
6. Section 2. *On Doctrine* 30. WPK. p. 120.
7. Section 3. *On Moral Practice* 2. WPK. p. 130.
8. Section 2. *On Doctrine* 30. WPK. p. 120.
9. Section 3. *On Moral Practice* 58. WPK. p. 169.
10. Part Three : *Practice* p. 37. WPK, The gothic letter is mine.
11. *Yoga Sūtra* 1-2.

ANEKĀNTA AND THE CONCEPT OF ABSOLUTISM IN JAINISM

Dr. Jagdish Prasad Jain*

The Jaina doctrine *Anekānta* or Jaina Relativism is said to be concerned with the multifaceted nature of reality, thereby drawing our attention to the fact that each object consists of many attributes, forms, relations, and modes. However, the most significant aspect of *Anekānta* is the harmonization of conflicting views found among partial observations; that contradictory characteristics or traits (*dharma*) coexist simultaneously in the same object as inalienable parts thereof. Existence is as much an inalienable part of the same object as nonexistence and permanence is coexisting in the midst of change, and so on. Thus, the Jains accept the possibility of coexistence of contradictory attributes in one and the same thing.

Amṛtacandra has defined *anekānta* in these words : *yadeva tat tadeva atat, yadeva aikam tadeva anekam, yadeva sat tadeva asat, yadeva nityam tadeva anityam, ityeka vastutva niṣpādakam parasparaviruddha śakti dvāya prakāśanam anekāntaḥ*,¹ i.e. any real object in the world is identical and distinct, one and many, existent and non-existent, eternal and non-eternal and so on. Haribhadra Sūri has kept two of these four pairs of mutually contradictory traits, viz. existent and nonexistence and eternal and non-eternal and added two pairs of universal and particular and describable and indescribable.² Thus, *anekānta* highlights that any real object (*vastu*) possesses mutually contradictory traits, characteristics or

* E-155 Kolkaji, New Delhi-110019.

modes coexisting simultaneously therein. In fact, these contradictory traits or modes forming an inalienable part and intrinsic nature of an object provide the true exposition of the reality.

Further clarifying this point, Akalaṅka has stated that *anekānta* means liquidation of absolute one-sided assertions, such as *vastu* (any real object) is only existent or only non-existent, only eternal or only non-eternal.³ Samantabhadra has observed that the central theme or the core of the doctrine of *anekānta* is that a thing must be characterized by two mutually contradictory features. He points out that when various standpoints (*nayas*) are seen in terms of relativity and considered complementary to one another (*parasparapekṣā*) they are *svaparopakariniḥ* (mutually supportive). But when they are considered from one-sided point of view, unrelated to or independent of one another, they become *sva-parapraṇāśinaḥ* (mutually destructive).⁴ In *Āptamīmāṃsā*, Samantabhadra categorically states "*nirapekṣa-naya-mithyā*", i.e. standpoints (*nayas*) which are one-sided and unrelated to one another are false and faulty. But if the *nayas* (standpoints), are *sāpekṣa*, i.e. mutually accommodating and complementary to one another, they are, indeed, quite efficacious and useful in portraying the true nature of substance and hence are the most judicious and satisfying to all concerned in every way.⁵

Criticizing the Jaina doctrine of Jain relativism, Dr. S. Radhakrishnan states that relativism is, ultimately, inconceivable without an Absolute. A question, therefore, arises whether non-relational (*nirapekṣa*), unconditioned or absolute has any place in Jaina philosophy or not. The answer is that while no *naya* (standpoint) including *śubha-naya* (pure viewpoint) can be non-relational (*nirapekṣa*), the state of undifferentiated consciousness (*nirvikalpa upayoga*), the experience of super-sensuous state of Godhood (*svātma-anubhūti*) or *śuddha-jñāyaka bhāva* (pure consciousness) is said to be *nirapekṣa*. the dynamic reality of the objective world or the temporal empirical existence is such that it

can be expressed and communicated only with relatively or conditional predication. As such each *naya* or proposition representing a particular viewpoint is expressive of a certain context and is concerned with a particular aspect of an object. Since it reveals only a part of the totality, it cannot be formulated or put in absolute terms.

But *paramātma-svarūpa* (the perfect self, the supreme state of self-realization) is considered absolute or transcendental in nature as it is quite beyond all relational aspects; it transcends all viewpoints or relational modes (*pakṣātikrānta*), and is beyond all possible theses or relational aspects (*sarva-naya-pakṣarahito*) and that which transcends all relational aspects or points of view (*pakṣa-atikrānta*) is said to be establishment in one's intrinsic nature, the essence of one's own true self (*samayasāra*). One, who is absorbed in the intrinsic nature of his true self, knows the views described by different *nayas* (standpoints), but he is not enamored of or wedded to anyone of them and hence neither accepts anyone of them nor rejects or denies the validity of the other.⁶

In twenty verses, Amṛtacandra discusses the contradictory traits or characteristics such as that the consciousness of *Jīva* (self) is bound or not bound, permanent or impermanent, manifold or one, deluded or not so, attached or non-attached, *kartā* (doer) and *bhoktā* (experiencer of one's actions) or not so, describable or not describable, etc. and states that one (*tattva-vedī*) who has realized the true nature of reality, i.e. the essence of one's true self, is not enamored of or wedded to anyone of them; verily consciousness is always consciousness,⁷ i.e. it is beyond all those these or aspects. "Those who abandon attachment or partiality of all theses or viewpoints and remain constantly established in their own intrinsic nature (*svarūpa*), whose psyche or consciousness (*citta*) is pacified or quietened through breaking free from the net of *vikalpas* (mental vicissitudes and thought constructions), they drink ambrosia (nectar) of immortality."⁸

The splendor and bliss of the state of *paramātmā* (supreme soul) is super-sensuous, incomparable, infinite, indestructible, ineffable, and transcends all the similes of the world. As *Ācārāṅga-sūtra* states, in the state of perfect Self "all sounds recoil thence where speculation has no room nor does the mind penetrate there... he perceives, he knows but there is no analogy; its essence is without form; there is no condition of the unconditioned."⁹

It may be pointed out that of the five *Jīva bhāvas* (experiential or emotional states or psychic conditions of consciousness), whereas four of them, the rising (*audayika*), suppressing (*aupaśamika*) annihilating (*kṣāyika*) and mixed process of partly eradication and partly suppression (*kṣayopaśamika*) are causally connected with or related to Physical (*dravya*) *karma* or *karma-upādhis*, the *pariṇāmika-bhāva* is the intrinsic and essential nature of the Self, unconditioned by *karmas* (both physical and psychic). This last one is *nirupādhi* character; it is non-relational (*nirapekṣa*), having no causal connection with *saṁsāra* (world) or *mokṣa* (salvation); (*mokṣa* also is a contrivance or product of *karma-upādhi*, since it has causal connection with *karmas*). It is *niṣkriya* (inactive) *bhāva* and according to this *bhāva* the *Jīvas* may be said to have neither beginning nor end; as spiritual existences they are eternal. Neither are they created nor can they be destroyed.¹⁰ Thus, while the first four *bhāvas* are relational or related to *karma-upādhi*, the last *bhāva* is non-relational (*nirapekṣa*), not related to anything and is unconditioned. It is against this background or the bedrock of this *parama* (supreme), absolute, *pariṇāmika bhāva* the other *bhāvas* work and the superstructure of Jaina Relativism is built.

When the Self attains the state of *paramātmā* (supreme soul or the state of Godhood), the various relational aspects or viewpoints (*nayas*), the distinctions of comprehensive knowledge (*pramāṇa*) and particular viewpoints, and different ways of installing or placing things in words (*nikṣepa*), which are useful and necessary means of discussing and ascertaining the nature of reality

of mundane existence have no relevance and as such all the dualities, contradictory traits, aspects or theses, etc. are set aside,¹¹ as they hinder the attainment of undifferentiated consciousness (*nirvikalpa upayoga*). Jaina concept of Absolute is an ever-present awareness of the "Absolute within", awareness of divinity, the light within to realize Godhood, i.e. infinite knowledge, infinite bliss, etc. This Jaina concept of absolute, transcendental (*pakṣātikrānta*) Self, which transcends the empirical or conditioned state of the Self, seems much more convincing and realistic than the two extremes of Advaita Vedānta and Buddhism.

Vedānta reaches its absolute by assigning "unreality" to the forms of existence and knowledge, i.e. the objective reality of the world consisting of individuals selves and material objects, all of which are said to be subsumed in one and only one "Absolute", the monistic unchanging reality, the Universal Cosmic *Brahman*. Such a concept or idea of an all encompassing Self, such as the Vedāntic *Ātman* or *Brahman*, J. Krishnamurti observes, is "just another thought construction and another manifestation of illusion."¹² The eternal reality of the metaphysical soul substance or *Brahman* of the Vedantin, G. Srinivasan points out, exists independently of any relation to temporal empirical existence and as such necessarily falls outside the scope of phenomenological analysis. The Jaina concept of the transcendental Self or pure consciousness, on the other hand, is to be regarded as "transcendence in immense", to use G. Srinivasan's phraseology, and as such it is necessarily "related" [in temporal empirical existence] to the modes of intentional consciousness. It does not mean transcendence from one reality to another or from unreality to reality but from one poise of consciousness to another within a single realm of consciousness.¹³ Self-realization thus viewed is self-transcendence.

The Buddhist school of philosophy gradually drops the possible and even the conceivable characteristics of reality and reaches the void or *sūnya* as the absolute. Buddhism argues that

when the idea of a real entity or being is dissected, it is found it refers to nothing : it is like peeling off an onion layer after layer and finally nothing is found underneath. So in order to become free, one should get rid of the notion that one is a real being or a substantial self, that one can enter into relations with others and that one can possess this or that, and that one can become or has not become something else. Buddhism thus teaches the way to *nirvāṇa*⁴ or the experience of non-beingness in the absolute form, a non-relational (*nirapekṣa*) state of void or *śūnya*.

According to the concept of vacuity, void or *śūnya* of Nāgārjuna's Mādhyamika school of Buddhism, "Everything is by its nature empty." For instance, agent and action are mutually dependent, therefore their independent existence cannot be demonstrated. So Nāgārjuna says, all relations and the forms of existence ultimately lead to void. Void transcends all causal relationships and could be termed as ultimate reality. And this void is said to be unconditioned, one Absolute Reality.¹⁵ Obviously, clinging to emptiness or void of Buddhism is as much an illusion as treating the objective reality of the temporal empirical existence of subject and object as a dreamworld or an unreal world or Advaita Vedānta. The Jaina concept of the Absolute alone seems to be realistic.

References

1. Amṛtacandra, *Samayasāra*, *Kalaśa* X. 247.
2. Frank Van Den Bossche, "Existence and Non-Existence in Haribhadra Sūri's Anekānta-Jaya-Patākā," *Journal of Indian Philosophy*, Vol. 23, 1995, p. 429.
3. Akalaṅka, *Aṣṭaśatī*, cited in Udai Chandra Jain, "Anekānta and Syādvāda," in *Ahimsa International Silver Jubilee issue (New Delhi, 1998)*, pp. 53-55.
4. D.K. Goyal, *The Path to Enlightenment : Svayambhū Stotra* by Samantabhadra (New Delhi : Radiant Publishers, 2000), Verse 61, Foreword by Jagdish Prasad Jain :Sadhak,' p. 30.
5. *Āptamīmāṃsā*, n. 19, chapter X, Verse 108.

6. Kundakundācārya, *Samayasāra, gāthās* 142, 144 and 143.
7. *Ibid.*, *Samayasāra Kalaśa*, Verses 70-89 by Amṛtacandra.
8. *Ibid.*, *Samayasāra Kalaśa*, Verse 69.
9. *Ācārāṅga-sūtra*, 1-5-6-3-4 (p. 52). Quoted in K.C. Sogani, *Ethical Doctrines in Jainism* (Sholapur, 1967), p. 205
10. Kundakunda, *Pañcāstikāyasāra : The Building of the Cosmos*, translation and commentary by A. Chakravartinayanara (Varanasi, 1975), *gāthā* 53, 56 and 58, pp. 49 and 51-53.
11. *Samayasāra*, n. 6, *Samayasāra Kalaśa*, Verse 9.
12. See Hillary Rodrigues, *Krishnamurti's Insights* (Varanasi, 2001), p. 73.
13. G. Srinivasan, *Insights into Inward Consciousness* (New Delhi, 1994), p. 99.
14. K. Satchidananda Murty, *The Realm of Between : Lectures on the Philosophy of Religion* (Simla, 1973), p. 76.
15. Kailash Vajpayee, "Nāgārjuna's Ultimate Reality = Void," *Times of India* (New Delhi), 11 September 2004.

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में 'Yoga in Modern Age' द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी एवं 'Stress Management in Ayurveda & Yoga' विषयक कार्यशाला सम्पन्न

वाराणसी। १७-१८ फरवरी, २००७, भारतीय योग अकादमी, वाराणसी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में 'Yoga in Modern Age एवं 'Stress Management in Ayurveda & Yoga' विषयक द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन पार्श्वनाथ विद्यापीठ में किया गया। जिसमें वाराणसी तथा वाराणसी के बाहर से पधारे लगभग १५ विद्वानों ने अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया। संगोष्ठी का उद्घाटन मुख्य अतिथि के रूप में पधारे प्रो० बेनी माधव शुक्ल, पूर्व कुलपति, दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर ने किया। उद्घाटन भाषण में उन्होंने कहा कि वर्तमान सन्दर्भ में योग मानव जीवन के लिए अति आवश्यक है। आज मानव तनावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा है। जितने भी तनाव हैं उनसे मुक्ति योग द्वारा ही सम्भव है। संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन डॉ० के०एम० त्रिपाठी, सचिव, भारतीय योग अकादमी ने किया। मुख्य वक्ता के रूप में पधारे डॉ० एच०एस०के० अग्रवाल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने योग की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि आज जन-जन तक योग को प्रचारित एवं प्रसारित करने की आवश्यकता है। योग जितना प्रासंगिक पतञ्जलि के युग में नहीं रहा होगा उससे कहीं ज्यादा प्रासंगिक वर्तमान में हो गया है। मुख्य अतिथि के वक्तव्य के पश्चात् डॉ० बी०के० द्विवेदी, रीडर, आयुर्वेद विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, डॉ० ए०के० त्रिपाठी, उप स्वास्थ्य अधीक्षक, आयुर्वेद अस्पताल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, डॉ० के०एम० त्रिपाठी, भारतीय योग अकादमी, वाराणसी, डॉ० सुधा जैन, प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी आदि विद्वानों ने अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया। डॉ० सुधा जैन के शोध-पत्र का विषय था 'तनाव क्यों, कैसे, एवं मुक्ति के उपाय' (जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)।

कार्यक्रम के अन्त में पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के डाइरेक्टर इन्चार्ज एवं भारतीय योग अकादमी के उपाध्यक्ष डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने धन्यवाद ज्ञापन किया तथा संचालन डॉ० राजेश झा ने किया।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में 'वैदिक धर्म की निरंतरता' विषय पर त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

वाराणसी। १०-१२ मार्च, २००७, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में 'वैदिक धर्म की निरंतरता विषयक एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में किया गया जिसमें देश के कोने-कोने से आये लगभग ८५ विद्वानों ने भाग लिया।

संगोष्ठी का उद्घाटन महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के कुलपति प्रो० सुरेन्द्र सिंह कुशवाहा द्वारा दीप प्रज्वलित कर किया गया। उद्घाटन सत्र को सम्बोधित करते हुये मुख्य अतिथि प्रो० कुशवाहा ने कहा कि वैदिक धर्म का मूल दर्शन भारतीय संस्कृति की रक्षा और जनकल्याण की भावना है। जनकल्याण की भावना जहाँ निहित होती है उसमें स्थायित्व होता है, वैसे धर्म की सत्ता कभी नष्ट नहीं हो सकती। विशिष्ट अतिथि के रूप में पधारे लखनऊ विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो० अंगने लाल ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि वैदिक और श्रमण संस्कृति दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया है। संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन करते हुये मूर्धन्य वैदिक विद्वान् प्रो० हृदयरंजन शर्मा ने कहा कि वेद ज्ञान-विज्ञान का भण्डार है। वेद शब्द स्वयं ही अपने वैज्ञानिक स्वरूप को दर्शाता है। वेद नित्य, पूर्ण एवं ईश्वरीय ज्ञान है इसमें सम्पूर्ण विश्व का कल्याण निहित है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जो वैदिक ग्रन्थ हमारे यहां नष्ट हो चुके हैं वे आज भी अमेरिका जैसे कुछेक विकसित राष्ट्र के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। हमसे ज्यादा विदेश के लोग वेद की वैज्ञानिकता को महत्त्व देते हैं। संगोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे प्रो० जे०पी० सिंह ने कहा कि भारतीय संस्कृति एवं वैदिक धर्म पर काफी आक्रमण हुआ। पाश्चात्य संस्कृति द्वारा इसे तोड़ने एवं बदलने की काफी कोशिशें की गयीं, किन्तु इसके बाद भी वैदिक धर्म की निरन्तरता आज भी बरकरार है। प्रो० पुरुषोत्तम सिंह ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

उद्घाटन सत्र के बाद कई विद्वानों ने अपने शोध-पत्र भी पढ़े। पटना से आयी हुई डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र ने कहा कि वैदिक धर्म हमेशा ही जाति, धर्म, क्षेत्र, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा आदि इन सभी बुराईयों से ऊपर उठकर समानता, एकता सद्भावना का उपदेश देता रहा है। डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० इन्द्र बहादुर सिंह, प्रो० सीताराम दूबे, प्रो० माहेश्वरी प्रसाद चौबे आदि ने भी अपने शोध पत्र पढ़े एवं विचार व्यक्त किये।

संगोष्ठी के दूसरे दिन प्रो० सीताराम दूबे, प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी और प्रो० पुरुषोत्तम सिंह की अध्यक्षता में तीन सत्रों में लगभग ५० शोध-पत्रों का वाचन

हुआ जिनमें डॉ० सुधा जैन, डॉ० शारदा सिंह, डॉ० महेन्द्र नाथ सिंह, अन्नपूर्णा त्रिपाठी, सुमन यादव, कु० श्रद्धा, प्रज्ञा पाण्डेय, चन्द्रभूषण, रेनू सिंह, श्वेता सुमन, सुनील कुमार दुबे, कु० बिन्दु, सुमन सिंह, श्रीमती रश्मि सिंह, मंजु कश्यप, मधुरिमा त्रिपाठी, श्वेता गुप्ता, संगीता, राधा, दिनेश कुमार, रजनीश कुमार सिंह, तेजनाथ पौडेल, डॉ० राहुल, राकेश, धनञ्जय पाठक, अमित कुमार उपाध्याय, कृष्ण कुमार सिंह, रमाकान्त चतुर्वेदी, डॉ० नीहारिका, डॉ० उषा कला उपाध्याय, आनन्द कुमार गौतम, अनिल कुमार, डॉ० जाह्नवी शेखर राय, बृजेश कुमार यादव, जयशंकर सिंह, अजय कुमार सिंह, करुणेश त्रिपाठी, प्रतिमा सिंह, डॉ० विश्वनाथ वर्मा थे आदि के नाम सम्मिलित हैं।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के तीसरे दिन डॉ० रामजी राय, डॉ० सुदर्शन मिश्र, डॉ० अरुणेश्वर झा, डॉ० श्रीकान्त यादव, डॉ० अशोक कुमार सिन्हा, डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय, डॉ० विजय कुमार, संजय कुमार, लाल बहादुर, श्रद्धा, सुमन आदि ने शोध-पत्र प्रस्तुत किये।

समापन सत्र के मुख्य अतिथि डॉ० आर०पी० द्विवेदी ने कहा कि वेद को हमलोग भगवान् मानते हैं। यदि वेद के गूढ़ रहस्य को प्राप्त करना है तो उसके लिये अनवरत साधना की आवश्यकता है। वेद में सभी समस्याओं का समाधान है। उन्होंने कहा कि ज्ञान पाने की जो ललक साधन विहीन लोगों में पहले थी वह आज के साधन सम्पन्न लोगों में नहीं है। विशिष्ट अतिथि अमलधारी सिंह ने वेद को समस्त विद्याओं का भण्डार बताया। उन्होंने कहा कि वेद सीधे-सीधे मानव के सम्पूर्ण जीवन एवं कामनाओं से सम्बद्ध है। वेद समष्टि की कामना करता है। समापन सत्र की अध्यक्षता कर रहे डॉ० अरुणेश्वर झा ने अपना विचार व्यक्त करते हुये कहा कि वेद वास्तव में सनातन है। आज इसकी मौलिकता को समझने की आवश्यकता है, तभी हम ज्ञान के भण्डार वेद का पूर्ण लाभ ले सकेंगे।

समापन सत्र में आये सभी अतिथियों का स्वागत संगोष्ठी के संयोजक डॉ० झिनकू यादव और संचालक डॉ० विश्वनाथ ने किया तथा धन्यवाद ज्ञापन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के डाइरेक्टर इंचार्ज डॉ० एस०पी० पाण्डेय ने किया।



जैन जगत्

तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर में

The role of the Yoga philosophy in modern society

विषयक द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

जौनपुर। २४-२५ फरवरी, २००७, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा दर्शन विभाग, तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर के संयुक्त तत्त्वावधान एवं डॉ० रामकुमार गुप्त, वरिष्ठ प्रवक्ता, दर्शन विभाग, टी०डी० कॉलेज के कुशल संयोजकत्व में 'The role of the Yoga philosophy in modern society' विषय पर द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई। इस संगोष्ठी में देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से आये विद्वद्ब्रह्मर्यो ने अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया। संगोष्ठी का उद्घाटन मुख्य अतिथि के रूप में पधारे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष प्रो० श्रीप्रकाश दूबे, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर ने किया। उन्होंने अपने वक्तव्य में योग की प्राचीनता को बताते हुए वर्तमान में उसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि आज की समस्याओं का हल योग के माध्यम से संभव है। योग की जितनी भी विधायें हैं वे सभी आत्मतत्त्व के विकास पर ही बल देती हैं। अन्तर मात्र इतना है कि कुछ विधाएं आत्मतत्त्व के उस विकास को ईश्वर का शरणार्थी मानती हैं तो कुछ उसे ईश्वरत्व की श्रेणी में ला खड़ा करती हैं।

संगोष्ठी के प्रथम दिन जिन विद्वानों ने अपना शोध-पत्र वाचन किया उनमें- प्रो० मृदुला रवि प्रकाश, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डॉ० कंचन सक्सेना, लखनऊ विश्वविद्यालय, डॉ० विजयकान्त दूबे, राजकीय महाविद्यालय, ज्ञानपुर; प्रो० रामलाल सिंह, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डा० डी०एन० द्विवेदी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डॉ० जटाशंकर मिश्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रो० एच०एन० उपाध्याय, डॉ० शिवभानु सिंह, डॉ० संजय शुक्ला, डॉ० पी०एन० सिंह आदि प्रमुख हैं।

संगोष्ठी के प्रथम दिन द्वितीय सत्र में पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के डाइरेक्टर इंचारज, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने 'पतञ्जलि का अष्टांग योग एवं जैन योग-साधना' विषय पर तथा दूसरे दिन प्रथम सत्र में पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रवक्ता

१५४ : श्रमण, वर्ष ५८, अंक १/जनवरी-मार्च २००७

डॉ० सुधा जैन ने 'तनाव से मुक्ति की प्रक्रिया : कायोत्सर्ग' विषय पर अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो० रामलाल सिंह, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ने की।

इस संगोष्ठी में योग शिविर का भी आयोजन किया गया जिसका संचालन डॉ० सुधीर मिश्रा ने किया।

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान के मासिक अध्ययन संगोष्ठी की १७वीं व १८वीं कड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न

दिल्ली। भारतीय संस्कृति के शोध एवं अध्ययन हेतु समर्पित भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान के मासिक अध्ययन संगोष्ठी की १७वीं कड़ी में ६ जनवरी २००७ को आयोजित संगोष्ठी में दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ० पुषराज जैन ने 'जैन नास्तिक नहीं हैं' विषय पर अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया। डॉ० जैन ने कहा कि दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। आस्तिकता बिना सम्यक्-दर्शन के हो ही नहीं सकता। जैन धर्म का मूल सम्यक्-दर्शन है। अन्त में उन्होंने कहा कि सम्यक्-दर्शन से व्यक्ति तीर्थंकरत्व को प्राप्त कर सकता है।

इस अवसर पर संस्थान के कोषाध्यक्ष श्री देवेन यशवन्त, डॉ० बालाजी गणोरकर (कार्यकारी व संयुक्त निदेशक, बी०एल०आई०आई, दिल्ली), डॉ० अशोक कुमार सिंह (एसो० प्रोफेसर, बी०एल० आई०आई, दिल्ली), दिल्ली विश्वविद्यालय के शोध छात्र-छात्रायें, समाज के अग्रणी जन आदि उपस्थित थे।

मासिक संगोष्ठी की १८वीं कड़ी में, ३ फरवरी, २००७ को आयोजित संगोष्ठी में लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद के निदेशक डॉ० जितेन्द्र बी० शाह ने 'वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अनेकान्तवाद की प्रासंगिकता' विषय पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया।

डॉ० शाह ने कहा कि अनेकान्तवाद के बिना कोई कार्य सम्भव नहीं हो सकता। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सूरिकृत 'सन्मतितर्क प्रकरण' का उल्लेख करते हुये उन्होंने कहा कि इस पुस्तक का जीवन में एक बार निश्चयपूर्वक आद्योपान्त अध्ययन करना चाहिए। स्याद्वाद शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जितनी भ्रान्ति दार्शनिकों में रही है, सम्भवतः उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं रही। डॉ० जैन ने कहा कि व्यावहारिक पक्ष से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब तक अनेकान्त की बात नहीं मानते, तब तक ज्ञान अधूरा और ऐकान्तिक है।

इस व्याख्यान सत्र की अध्यक्षता करते हुए डॉ० कमला जैन (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने कहा कि हमें आपसी भेद-भाव, पंथ, द्वेष, घृणा आदि को त्याग कर ऊपर उठने की आवश्यकता है। उन्होंने डॉ० शाह की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि आपने बड़े ही समिक्षित एवं तुलनात्मक ढंग से जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्मों में अनेकान्त पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम का संचालन कार्यकारी निदेशक डॉ० बालाजी गणोरकर ने किया।

डॉ० सुधा जैन द्वारा साऊथ कोरिया के विद्यार्थियों को प्रेक्षाध्यान प्रशिक्षण



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के मालवीय भवन में योग-साधना केन्द्र के तत्त्वावधान में वांक्वांग डिजिटल विश्वविद्यालय, साऊथ कोरिया के ५१ छात्र-छात्राओं एवं अध्यापकों का दिनांक १५-१-२००७ से २७-१-२००७ तक योग शिविर आयोजित किया गया जिसमें डॉ० सुधा जैन, प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी ने दिनांक १६-०१-२००७ से १८-०१-२००७ तक जैन साधना-पद्धति, प्रेक्षाध्यान का प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक प्रशिक्षण दिया। डॉ० जैन ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ का परिचय देते हुये उन्हें प्रेक्षाध्यान का इतिहास, ध्यान की पूर्व तैयारी, कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा, ज्योति-केन्द्र प्रेक्षा तथा सम्पूर्ण कायोत्सर्ग के प्रयोग करवाये।

डॉ० धूपनाथ प्रसाद की अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय में नियुक्ति



पार्श्वनाथ विद्यापीठ के 'अहिंसा, शांति-शोध व मूल्य शिक्षा' के प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त छात्र डॉ० धूपनाथ प्रसाद की नियुक्ति वर्ष २००७ में वर्धा (महाराष्ट्र) स्थित महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के 'अहिंसा एवं शांति अध्ययन' विभाग में प्राध्यापक के पद पर हुई है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से डॉ० प्रसाद की इस सफलता पर हार्दिक बधाई!

वैशाली में विद्वद् संगोष्ठी सम्पन्न

वैशाली (बिहार), महावीर जयन्ती एवं वैशाली महोत्सव के पावन प्रसंग पर ३१ मार्च, २००७ को प्राकृत जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वासोकुण्ड, वैशाली, जिला - मुजफ्फरपुर (बिहार) में 'श्री जगदीशचन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला'

का शुभारम्भ हुआ, जिसका विषय था - 'सामाजिक जीवन में अहिंसा का महत्त्वा' व्याख्यानमाला का उद्घाटन डॉ० रघुवंश प्रसाद सिंह, ग्रामीण विकास मंत्री, भारत सरकार ने दीप प्रज्वलित कर किया। उद्घाटन भाषण में मंत्री महोदय ने कहा कि आज अहिंसा के महत्त्व को समझने की जरूरत है, क्योंकि अहिंसा को अपने जीवन में अपनाये बिना हमारा जीवन सुख-शांतिमय नहीं हो सकता। उन्होंने संस्थान की उन्नति के लिए पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया।

व्याख्यानमाला को सम्बोधित करते हुए लालगंज क्षेत्र के पूर्व विधायक श्री योगेन्द्र प्रसाद साहू ने कहा कि अहिंसा के बिना प्राणीमात्र सुरक्षित नहीं रह सकता, इसीलिए भगवान महावीर की अहिंसा सब के लिए अपनाया आवश्यक है।

संस्थान के निदेशक डॉ० ऋषभचन्द्र जैन ने विषय प्रवर्तन करते हुए अहिंसा की उपयोगिता पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि लोग अहिंसा को निषेधात्मक मानकर व्याख्यायित करते हैं। यदि अहिंसा निषेधात्मक होती तो मनुष्य अधिक समय तक शांतिपूर्वक रह नहीं पाता, जबकि देखा जाता है कि मनुष्य हिंसक आचरण करते हुए अधिक समय तक रह नहीं सकता, इससे पता चलता है कि अहिंसा प्राणी का स्वभाव है और हिंसा बाह्य संसर्ग से प्राप्त होनेवाला विभाव है।

मुख्य वक्ता के रूप में दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान् एवं इण्डियन फिलोसिफीकल कॉंग्रेस के कोषाध्यक्ष एस०एन० चौधरी ने कहा कि व्यक्ति से मिलकर समाज बनता है, वह समाज समरसता के कारण ही उन्नत हो सकता है। समाज एवं सामाजिक जीवन की पूर्णता अहिंसा में निहित है। यदि हमें मानव जीवन को समुन्नत करना है तो अहिंसावृत्ति को अंगीकार करना होगा।

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० रंजन सूरिदेव ने कहा कि भारतीय संस्कृति की समग्रता अहिंसा सिद्धान्त में निहित है। भारतीय संस्कृति की प्रत्येक इकाई ने अहिंसा की व्यापक व्याख्या की है। किन्तु भगवान महावीर ने अहिंसा की जैसी व्याख्या प्रस्तुत की है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

संस्थान के पूर्व निदेशक डॉ० डी०एन० शर्मा ने कहा कि जैनधर्म की अहिंसा का वैशिष्ट्य देखते ही बनता है, क्योंकि अहिंसा के बिना प्राणीमात्र अथवा मानव जीवन का कोई मूल्य नहीं है। लंगट सिंह कालेज के दर्शन विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ० आर०के० सिंह ने अहिंसा के सिद्धान्त को विशाल एवं ऋषि विराट् बताया। डॉ० सी०पी० सिन्हा ने अहिंसा से होनेवाले विभिन्न लाभों की चर्चा की। डॉ० शैल कुमारी सिन्हा ने कहा कि अहिंसक जीवन-पद्धति को अपनाये बिना प्राणी अधिक समय तक अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता है।

वज्जिका विचार मंच के श्री चन्द्रकिशोर पारासर ने २१वीं शती में विभिन्न माध्यमों से समाज को परोसी जानेवाली सूक्ष्म हिंसा की व्यापक चर्चा की।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्रावक शिरोमणि श्री निर्मल कुमार सेठी ने मुख्य अतिथि के रूप में सम्बोधित करते हुए कहा - अहिंसक जीवन-पद्धति के कारण ही भारत विश्वगुरु के रूप में पहचाना जाता है। भारतीय चिन्तन से आज सम्पूर्ण विश्व लाभान्वित हो रहा है।

व्याख्यानमाला की अध्यक्षता बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर के कुलपति डॉ० अशेश्वर यादव ने की। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि संग्रह की प्रवृत्ति ही मूलतः हिंसकवृत्ति के विकास का कारण है। इसी से आर्थिक विषमता और वर्ग-भेद पनपता है। इसलिए अहिंसक विचारों को अधिक गति प्रदान करने के लिए संग्रहवृत्ति को नियंत्रित करने की आवश्यकता है। धन्यवाद ज्ञापन संस्थान के निदेशक डॉ० ऋषभचन्द्र जैन ने किया।



साहित्य सत्कार

पुस्तक समीक्षा

१. आचार दिनकर - तृतीय खण्ड, प्रतिष्ठा, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलिविधान, लेखक - आचार्य वर्धमानसूरि, अनुवादक-साध्वी मोक्षरत्ना जी, सम्पा०- प्रो० सागरमल जैन, प्रका० - प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर व अ०भा० खरतरगच्छ महासंघ, मुम्बई। राजापुर (म०प्र०) पृष्ठ - २३०, प्रथम संस्करण - फरवरी - २००७, मूल्य - ८० रूपये, साइज - डिमाई।

‘आचार दिनकर’ नामक इस ग्रन्थ के रचयिता वर्धमानसूरि का जन्म रूद्रपल्ली शाखा के प्रभाव क्षेत्र में कहीं हुआ होना चाहिए। पंजाब में रचित होने के कारण इसका क्षेत्र पंजाब तथा हरियाणा ही रहा होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

‘आचार दिनकर’ नामक ग्रन्थ संस्कृत व प्राकृत भाषा में है। यह ग्रन्थ अपनी मूल भाषा में पहले भी प्रकाशित हुआ था, किन्तु पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना पाने में असफल रहा। जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है उनमें कुछ संस्कारों के थोड़े बहुत उल्लेख तो अवश्य मिलते हैं किन्तु वहाँ भी संस्कारों के विधि-विधानों का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। ऐसी स्थिति में आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचार दिनकर एक ऐसा ग्रन्थ सिद्ध होता है जिसमें न केवल मुनि, न केवल गृहस्थ, अपितु गृहस्थ तथा मुनि दोनों में सामान्य रूप से प्रचलित संस्कारों व उनके विधि-विधानों का सुव्यवस्थित और सुस्पष्ट विवेचन हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ चालीस उदयों में विभाजित है जिसे आचार्य जी ने तीन भागों में बांट दिया है। प्रथम भाग में गृहस्थ सम्बन्धी, द्वितीय भाग में मुनि सम्बन्धी तथा तृतीय भाग में गृहस्थ और मुनि दोनों द्वारा सामान्य रूप से आचरणीय विधि-विधानों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में वर्णित जो संस्कार हैं उन्हें वर्धमानसूरि जी ने उस युग में प्रचलित व्यवस्था से ही ग्रहण किया है, क्योंकि इस ग्रन्थ में वर्णित चारों विधियाँ हिन्दू परम्परा से ही ली गयी हैं। जैनाचार्यों द्वारा उनका जैनीकरण मात्र किया गया है। इस दृष्टि को सामने रखकर जैन परम्परा और उस समय की सामाजिक-व्यवस्था में प्रचलित विधि-विधानों को इस ग्रन्थ में सर्वथा नवीन रूप में लोगों के सामने प्रस्तुत

किया गया है। इस ग्रन्थ से पूर्व लिखे जितने भी ग्रन्थ हैं उनमें इन संस्कारों सम्बन्धी विधि-विधानों का विस्तार से अध्ययन नहीं किया गया है, अतः इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ की महत्ता सिद्ध होती है, किन्तु भाषा की दुरूहता के कारण यह ग्रन्थ अपनी मूल भाषा में समाज में लोकप्रिय नहीं हो पाया। साध्वी मोक्षरत्ना जी ने इस विशालकाय ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके अनुवाद का कार्य भी इतना सहज और सरल नहीं था, क्योंकि यह ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से क्लिष्ट तो था ही, साथ ही इसके मूल में अशुद्धता भी पर्याप्त थी, अतः इन सबको ध्यान में रखते हुए साध्वी मोक्षरत्ना जी ने ग्रन्थ के अनुवाद का कार्य जिस सफलतापूर्वक सम्पन्न किया इसके लिये वे निश्चय ही बधाई की पात्र हैं। वे आगे भी इस प्रकार का प्रयास करती रहेंगी, ऐसी आशा है। ग्रन्थ की बाह्याकृति सुन्दर और आकर्षक तथा मुद्रण स्पष्ट है।

डॉ० शारदा सिंह

२. आचार दिनकर - चतुर्थ खण्ड, प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि, लेखक - आचार्य, वर्धमानसूरि, अनुवादक - साध्वी मोक्षरत्नाश्री जी, सम्पा०- प्रो० सागरमल जैन, प्रकाशक - शाजापुर (म०प्र०), प्रथम संस्करण-सितम्बर - २००५, मूल्य - २०० रूपये, पृष्ठ - ४२२, साईज - डिमाई।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य वर्धमानसूरिकृत ग्रन्थ 'आचार दिनकर' का चतुर्थ खण्ड है। इसके प्रथम खण्ड में गृहस्थों के लिये सोलह संस्कार, द्वितीय खण्ड में जैन मुनि जीवन के विधि-विधानों का तथा तृतीय खण्ड में प्रतिष्ठा-विधि, शान्तिक कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि-विधान, जो मूलतः कर्मकाण्डपरक हैं, का उल्लेख है तथा 'आचार दिनकर' के चतुर्थ अर्थात् इस खण्ड में प्रायश्चित्त-विधि, षडावश्यक-विधि, तप-विधि और पदारोपण-विधि इन चारों का विधिवत् उल्लेख किया गया है।

'आचार दिनकर' के इस खण्ड में मुनि जीवन और गृहस्थ जीवन दोनों से सम्बन्धित संस्कारों का उल्लेख किया गया है। इससे पहले किसी भी ग्रन्थ में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया था। अतः हम कह सकते हैं कि 'आचार दिनकर' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें जैन परम्परा पर हिन्दू परम्परा के संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रभाव को मानते हुए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित विधि-विधानों का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'आचार दिनकर' के इस चतुर्थ खण्ड में प्रायश्चित्त-विधि, तप-विधि, आवश्यक-विधि तथा पदारोपण-विधि को आगमों की अपेक्षा अधिक विकसित रूप में विवेचित किया गया है। तप-विधि के अन्तर्गत आगमों में वर्णित तपों के उल्लेख के साथ

उन तपों का भी उल्लेख किया गया है, जो हिन्दू परम्परा से प्रभावित लगते हैं, इसके अतिरिक्त राजा, मन्त्री, सेनापति के पद को ग्रहण करने की विधि का भी वर्णन किया गया है।

साध्वी मोक्षरत्ना जी ने 'आचार दिनकर' नामक इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करके श्लाघनीय कार्य किया है। इस कार्य से साध्वी मोक्षरत्ना जी की विद्वता सहज ही प्रखर हो सामने आती हैं। जिस सफलता से उन्होंने इस विशालकाय ग्रन्थ के चारों खण्डों का मात्र तीन वर्षों में हिन्दी अनुवाद किया है इसके लिए वे बधाई की पात्र हैं।

डॉ० शारदा सिंह

३. **श्रान्धविधिप्रकरणम्** (विधिकौमुदीवृत्ति का भाषान्तर),-लेखक - रत्नशेखर सूरिश्वर जी, सम्पा० - मुनिराज श्री जयानंदविजय जी, प्रका० - श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल (राज०), प्रथम संस्कारण - २००४, मूल्य - स्वाध्याय, पृष्ठ - ३८८, साईज - डिमाई।

प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन पूज्यपाद श्री रत्नशेखरसूरिश्वरजी द्वारा आज से करीब ५५८ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् १५०६ में किया गया।

भारतीय संस्कृति की श्रमणधारा जिस पर समस्त जैन संघ आधारित है, को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये हमारे ऋषि-मुनियों ने हमेशा नये-नये साहित्य की रचना कर समाज को दिशा निर्देशित किया है। फिर चाहे वो श्रमण जीवन सम्बन्धित विधि-विधान हो या श्रावक जीवन सम्बन्धी। श्रमण जीवन पर अभी तक अनेकों प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना हो चुकी है, किन्तु श्रावक जीवन को समुज्ज्वल बनाने वाले विधि-विधानों का दृष्टांतपूर्वक विवेचन किसी भी ग्रन्थ में नहीं किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ की महत्ता और बढ़ जाती है, क्योंकि इसमें उस समय के प्रचलित विधि-विधानों का विवेचन किया गया है। इतना ही नहीं तब से अब तक के विधि विधानों में कितने योग्य और अयोग्य विधि-विधान जुड़ गये हैं उसका विवरण भी इस ग्रन्थ द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ६ प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश के अन्तर्गत श्रावकों के भेद, धर्म, जप, स्वप्न-विचार, पच्चक्खाण की विधि, लाभ, फल, अर्थोपार्जन की विधि, अर्थ का व्यय, देवद्रव्यादि दैनिक कर्मों का विवरण अनेक कथाओं के माध्यम से दिया गया है। द्वितीय प्रकाश में रात्रिकृत्य के अन्तर्गत सोने से पूर्व स्वाध्याय एवं धर्मोपदेश, प्रतिक्रमण का समय तथा सोने की विधि आदि का विचार किया गया है। तृतीय प्रकाश के अन्तर्गत पूर्वकृत्य, चतुर्थ प्रकाश के अन्तर्गत चातुर्मासिकृत्य,

पंचम प्रकाश में वर्षकृत्य तथा अन्तिम और षष्ठ प्रकाश में जन्मकृत्य का दृष्टांतपूर्वक विवेचना किया गया है।

कहने का तात्पर्य है कि जो भी भावक इस ग्रन्थ में कहे गये ६ प्रकाशों का सम्यक् रूपेण पालन करेगा वह वर्तमान में तो सुख पायेगा ही और परलोक में भी मुक्ति को प्राप्त करेगा। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ उन श्रावकों के लिये विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगा जो सांसारिक कृत्यों को करते हुए भी मुक्ति के आकांक्षी हैं। ऐसे उपासकों के लिये श्रावक धर्म की विधि एक ही पुस्तक में प्राप्त होना सहज उत्कंठा का विषय है। निश्चित ही पाठकगण इस पुस्तक का लाभ उठा सकेंगे।

ग्रन्थ के भाषांतर का कार्य जैनामृत समिति, उदयपुर द्वारा विक्रम सं० १६८७ में किया गया था। इसके अतिरिक्त इसमें जो भी भाषा की त्रुटि रह गयी थी उसमें भाषिक सुधार कर श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल (राज०) ने छपवाया है। इस कार्य के लिये वे अवश्य ही बधाई के पात्र हैं। ग्रन्थ की बाह्याकृति आकर्षक व सुसज्जित तथा मुद्रण स्पष्ट है।

डॉ० शारदा सिंह

४. प्रस्थानरत्नाकरशब्दखण्डीया (विद्वत् परिचर्चा), प्रकाशक- श्री बल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बाजार, माण्डवी, जिलहा-कच्छ, गुजरात - ३७०४५६, संस्करण- प्रथम (वि०सं० २०५६), पृ०- १४+६०१, आकार - डिमाई, मूल्य- २००/-

गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमचरण विरचित 'प्रस्थानरत्नाकर' वल्लभवेदान्त दर्शन का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 'प्रस्थानरत्नाकर' के शब्द खण्ड के विषयों पर की गयी विचारगोष्ठी का संकलन है। कहा जाता है जो स्थान न्याय दर्शन में उदयन का, मीमांसा दर्शन में पार्थसारथी मिश्र और शालिकनाथ मिश्र का है, वही स्थान वल्लभ वेदान्त में गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमचरण जी का है। लेखक ने इस ग्रन्थ में ज्ञान को ब्रह्म स्वरूप माना है। ईश्वर जब इस संसार की सृष्टि करने की इच्छा करता है तो ज्ञान का अनेक प्रकार से आविर्भाव होता है। इस पुस्तक में चार दिवसीय संगोष्ठी में देश के लब्धप्रतिष्ठित विद्वज्जनों द्वारा किए गये पत्र वाचन तथा उस पर हुई चर्चा के साथ २२ शोध-पत्रों का संकलन है। जिसमें Dr. S.S. Antarkar पठित "Autonomy and supremacy of the Vedic testimony : Prasthānaratānākara View", Prof. S.R. Bhatt पठित "Meaning of Veda and vedaprāmānya according to Prasthānaratānākara, Dr. B.K. Dalai पठित "Jain concept of Śabda Pramāṇa", Prof V.N. Jha पठित "Vallabha's philosophy of language", के

साथ ही डॉ० अच्युतानन्द दास, डॉ० रघुनाथ घोष, डॉ० वाई०एस० शास्त्री, डॉ० एन०आर०कण्णन, डॉ० के०ई० देवनाथन, प्रो० डी० प्रह्लादाचार, डॉ० बलिराम शुक्ल, डॉ० शशिनाथ झा, डॉ० के०ई० गोविन्दन, डॉ० विन्देश्वरी प्रसाद मिश्र, डॉ० एन०एम० कन्सारा, डॉ० सुनन्दा वाई० शास्त्री, डॉ० गोविन्द झा, डॉ० प्रदीप गोखले, डॉ० कीर्त्यानन्द झा एवं डा० कृष्णानन्द झा के शोध-पत्रों का संकलन है। शोध-पत्र हिन्दी, अंग्रेजी एवं संस्कृत भाषाओं में है। प्रत्येक शोध-पत्र वाचन के उपरान्त उस पर की गई चर्चा का भी उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है। अतः यह पुस्तक दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों के लिए अवश्य ही पठनीय एवं संग्रहणीय है। आशा है ज्ञानपिपासु विद्वत्जन इस पुस्तक का अवश्य लाभ उठाएंगे।

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय

५. **वाल्लभ वेदान्त** (निबन्ध संग्रह), लेखक - गोस्वामी श्री श्याम मनोहर जी, सम्पा० - गोस्वामी शरद, प्रका० - श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट, कँसारा बाजार, माण्डवी, कच्छ, गुजरात ३७०४६५, संस्करण - प्रथम (वि०स० २०६३), आकार - डिमाई, पृ० - ५४५.

प्रस्तुत ग्रन्थ गोस्वामी श्री श्याम मनोहर जी द्वारा धर्म-दर्शन विषयक निबन्धों का संग्रहित रूप है। इसके दर्शन खण्ड में आठ एवं धर्म खण्ड में छः लेख हैं। सभी लेख धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों की गूढ़ शास्त्रीय चर्चा को समेटे हुए हैं। दर्शन खण्ड का प्रथम लेख “भारतीय दर्शन के विकास में प्रस्तावित विभिन्न योजनाबद्धताओं की रूपरेखा” (इन चौखटों में वाल्लभ दर्शन का स्थान) है। इस लेख के माध्यम से विद्वान् लेखक ने भारतीय दर्शन की विभिन्न विधाओं (आस्तिक, नास्तिक) के साथ-साथ तर्कशास्त्र में भी वल्लभ दर्शन को दिखाने का प्रयास किया है। इसके साथ ही वाल्लभ वेदान्त के अनुसार भाषा का स्वरूप और कार्य कलाप, चक्षु का चाक्षुषविषय देश में प्राप्यप्रकाशकारित्व, तमस के विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतियों के बारे में कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोण से), ख्यातिवाद की चर्चा में कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार बिन्दु, सत्य के कतिपय अनूठे आयाम, अन्तःकरण का स्वभाव और कार्यकलाप, कार्यकारणभाव मीमांसा आदि लेख उत्कृष्ट बन पड़े हैं। धर्म खण्ड में प्रथम लेख शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भ में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की मीमांसा है, जिसमें लेखक ने शुद्धाद्वैतवाद पर स्वयं पुरुषार्थहीनता, अकर्मण्यता तथा ज्ञानेच्छाप्रयत्न पारतन्त्र्य आदि आक्षिप्त दोषों का निरसन किया है। इस लेख में लेखक ने आक्षेपों का निरसन करते हुए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के स्वरूप तथा उसकी उपयोगिता आदि का विस्तृत विवेचन किया है। अन्य लेखों में धर्म की

विविधता और विश्व में शान्ति, स्वामीनारायण मतीय वेदान्त सिद्धान्त और भक्ति-साधना की विकसनप्रक्रिया - १ एवं २, ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और मनुष्य के अस्तित्व की खोज, धर्म, दर्शन, विज्ञान और कला में रसदृष्टि का पक्ष आदि लेख, लेखकीय विशेषताओं से भरे पड़े हैं। अन्त में कहा जा सकता है कि धर्म के सुविज्ञ एवं जिज्ञासु पाठकों एवं शोधार्थियों कि लिए यह एक उत्तम कृति है। आशा है सुविज्ञ पाठक इसे पढ़कर अवश्य लाभान्वित होंगे।

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय

६. कार्यकारणभाव (विद्वत्परिचर्चा), प्रका० - श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बाजार, माण्डवी, कच्छ, गुजरात ३७०४६५, संस्करण प्रथम (वि०सं० २०६०), आकार - डिमाई, पृष्ठ - ६१४, मूल्य - १५०/-

प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रस्थानरत्नाकर' आधारित कार्यकारणभाव पर विद्वत् परिचर्चा का संकलन है। 'प्रस्थानरत्नाकर' वाल्लभ वेदान्त दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें गोस्वामी पुरुषोत्तमचरण जी ने अपनी विद्वत्ता का उत्कृष्ट परिचय दिया है। इसमें विभिन्न विद्वानों के २२ शोध-पत्रों को संकलित किया गया है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत डॉ० बी०के० दलाई एवं डॉ० मीरा रस्तोगी का क्रमशः 'Jain Theory of Causation' एवं 'काश्मीर शिवाद्वयवाद में कारणता सिद्धान्त' शोध-पत्र का अंकन किया गया है। प्रथम शोध-पत्र प्रो० वशिष्ठ नारायण झा पठित 'The Vallabha theory of cause and effect relationship' है जिसमें प्रो० झा ने वल्लभ दर्शन के कारणता सिद्धान्त की विवेचना की है, जिस पर विद्वानों ने उत्कृष्ट चर्चा की है। अजातिवाद के अन्तर्गत प्रो० यज्ञेश्वर शास्त्री एवं डॉ० राधेश्यामधर द्विवेदी का लेख है। दोनों ही लेख सारगर्भित हैं। प्रो० शास्त्री ने गौड़पाद का अजातिवाद और वल्लभाचार्य का अविकृत परिणामवाद पर अध्ययन प्रस्तुत किया है और डॉ० द्विवेदी ने ह्यूम के कार्यकारण सिद्धान्त के साथ भारतीय चिन्तन परम्परा में वर्णित कार्यकारण सिद्धान्त के साम्य और वैषम्य को दिखाने का प्रयास किया है। प्रथम लेख अँग्रेजी में है और द्वितीय संस्कृत में। इसी प्रकार संघातवाद के अन्तर्गत डॉ० रामचन्द्र माँझी एवं डॉ० अम्बिकादत्त शर्मा, विवर्तवाद के अन्तर्गत डॉ० पारसनाथ द्विवेदी एवं डॉ० विन्देश्वरी प्रसाद मिश्र का आलेख है। आरम्भवाद शीर्षक के अन्तर्गत डॉ० बलिराम शुक्ल, डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र, डॉ० चन्द्रशेखर शुक्ल, डॉ० किशोर नाथ झा, डॉ० अरुण मिश्र के शोध-पत्रों का अंकन हुआ है। सर्व सिद्धान्त-संग्रहवाद के अन्तर्गत प्रो० सिद्धेश्वर भट्ट एवं डॉ० राम किशोर त्रिपाठी के शोध-पत्र एवं परिणामवाद १ एवं २ के अन्तर्गत डॉ० उज्ज्वला पानसे झा, प्रो० एन०एस०रा० ताताचार्य, डॉ०

के०ई० देवनाथन, प्रो० डी० प्रह्लादाचार, डॉ० प्रबल कुमार सेन, गोस्वामी श्री श्याम मनोहर, डॉ० सुनन्दा शास्त्री एवं डॉ० वी०एम० जोशी के शोध-पत्र का अंकन है। शोध-पत्र हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में पठित है। सभी शोध-पत्र वाल्लभ वेदान्त की सारगर्भिता को प्रस्तुत करते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ वाल्लभ वेदान्ताभिमत कार्यकारणभाव चर्चा ज्ञानपिपासु सुधी पाठकों के लिए उपयुक्त है। आशा है धर्म-दर्शन के जिज्ञासु पाठक एवं शोधार्थी इसका लाभ अवश्य उठाएँगे। यह पठनीय एवं संग्रहणीय विशेषताओं से युक्त ग्रन्थ है।

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय

७. **जैन विधि-विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास**, भाग-१, लेखिका- साध्वी सौम्यगुणा श्री, सम्पा० - डॉ० सागरमल जैन, प्रका० - प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, मध्य प्रदेश, संस्करण-२००६, आकार - डिमाई, पृ० - ६७२, मूल्य- १५१/-

किसी भी धर्म-दर्शन का अपना स्वतंत्र विधि-विधान होता है। इन्हीं विधि-विधानों के माध्यम से व्यक्ति अपनी धार्मिक साधना के पथ पर चलकर चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। जनकल्याण की कामना करने वाले हमारे ऋषि-मुनियों ने दान-शील, तप आदि अनेक विधान बनाये हैं जिनसे मानव मात्र का कल्याण हो सके। इसी क्रम में जैन विधि-विधानों के इतिहास और वैविध्यपूर्ण जानकारी के साथ सुधी पाठक को अपने योग्य आराधनाओं के विषय में सहज एवं सरल भाषा में जानकारी उपलब्ध कराने का सफल प्रयास साध्वी सौम्यगुणा श्री जी ने किया है। जैन विद्या के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० सागरमल जैन के कुशल सम्पादकत्व में यह ग्रन्थ कुछ गिने चुने विशिष्ट ग्रन्थों की श्रेणी में आ जाता है। विद्वान् लेखिका ने अपनी बुद्धिमत्ता का सदुपयोग करते हुए इस ग्रन्थ को वह सब कुछ दिया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यह ग्रन्थ कुल १३ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय जैन विधि-विधान के उद्भव एवं विकास से सम्बन्धित है। इसमें लेखिका ने मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित नियमों के उद्भव एवं विकास को विभिन्न दृष्टियों से विवेचित करने का प्रयास किया है। द्वितीय अध्याय में श्रावकाचार सम्बन्धी विधि-विधानपरक साहित्य सूची के अन्तर्गत प्रारम्भ में ७४ साहित्य की सूची दी गई है, तत्पश्चात् उनका संक्षिप्त विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय साध्वाचार सम्बन्धी विधि-विधानपरक साहित्य से सम्बन्धित है। इसमें भी प्रारम्भ में २७ साहित्य की सूची एवं तत्पश्चात् उनपर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय में षडावश्यक (प्रतिक्रमण) सम्बन्धी विधि-विधानपरक २१ साहित्य की सूची और उनके बारे में आवश्यकतानुरूप

चर्चा की गई है। पांचवां अध्याय तप सम्बन्धी है जिससे सम्बन्धित ४४ साहित्य की सूची और उनपर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। अध्याय छ संस्कार एवं व्रतारोपण से सम्बन्धित है। इसमें ७० साहित्य की सूची के साथ उनकी विवेचना की गई है। अध्याय सात समाधिमरण से सम्बन्धित है। इसमें कुल ३१ साहित्य-सूची है और उनपर उचित चर्चा की गई है। अध्याय आठ और नौ प्रायश्चित्त सम्बन्धी साहित्य से सम्बन्धित है जिसमें ४७ साहित्य की सूची के साथ उनकी सविस्तार विवेचना की गयी है। अध्याय दस पूजा एवं प्रतिष्ठापरक साहित्य से सम्बन्धित है जिसमें १३३ पूजा एवं ४२ प्रतिष्ठा सम्बन्धी साहित्य के बारे में ससन्दर्भ वर्णन किया गया है। ग्यारहवां अध्याय जैन मंत्र एवं यन्त्र सम्बन्धी साहित्य से सम्बन्धित है। इसमें तन्त्र-मंत्र-यन्त्र-विद्या सम्बन्धी - ८४ साहित्य की सूची दी गई है और उनपर ससन्दर्भ प्रकाश डाला गया है। बारहवां अध्याय ज्योतिष निमित्त-शकुन साहित्य से सम्बन्धित है। इसमें ९० ग्रन्थों की सूची दी गई है जिसमें जैन-ज्योतिष एवं शकुन विद्या सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना मिलती है। त्रयोदश अध्याय में शेष विविध विषयों का संकलन किया गया है जिसमें कुल ३८ पुस्तकों की सूची दी गयी है और उनपर सविस्तार चर्चा भी की गई है।

अन्त में कहा जा सकता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्री लिखित जैन विधि-विधान साहित्य सम्बन्धी यह ग्रन्थ अपने आप में एक अनूठी रचना है जिसका लाभ जैन विद्या के सुधी पाठकों के साथ-साथ समान्य शोधार्थी भी उठा सकते हैं। निष्कर्षतः यह ग्रन्थ एक बार सभी के लिए अवश्य पढ़ने योग्य है जिससे कि जैन विद्या सम्बन्धित ज्ञान में प्रौढ़ता आये।

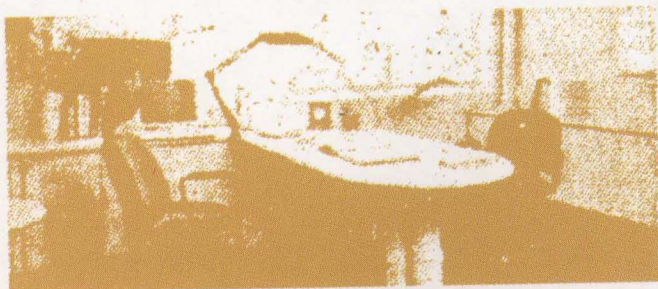
डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय



साभार प्राप्ति

१. नवीन द्वादश छाह ढाला संग्रह, लेखक - राजमल पवैया, प्रका०- भरत पवैया, तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुर, भोपाल-४६२००१
२. काव्यशास्त्रविनोदेन, लेखक - डॉ० कविन शाह, प्रका० - रीता बेन शाह, १०३, जीवन ज्योति अपार्टमेन्ट, सी बिल्डिंग, बजारिया बंदर रोड, बीलीमोरा - ३९६३२१
३. प्रेरणा स्रोत, अहिंसा फाउन्डेशन, ९ पुसा रोड, नई दिल्ली-११०००५
४. श्री नवपद तप आराधना विधि, लेखक - पंन्यास श्री कैलाशचंद्र विजय जी, प्रका०- श्री रांदेर रोड, श्वे० मूर्ति० जैन संघ, अडाजण पाटीया, सुरत-३९५००९
५. श्री युगप्रधान तप आराधना विधि, लेखक - पंन्यास श्री कैलाशचंद्र विजय जी, प्रका०- श्री रांदेर रोड, श्वे० मूर्ति० जैन संघ, अडाजण पाटीया, सुरत-३९५००९
६. श्री लघुतत्त्व स्फोट विधान, लेखक - राजमल पवैया, प्रका०- भरत पवैया, तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल-४६२००१
७. श्री वृहत् सामायिक पाठ विधान, लेखक - राजमल पवैया, प्रका०- भरत पवैया, तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल-४६२००१
८. प्रेरक बोधकथाएँ, महात्मा भगवानदीन, प्रका० - शचिता प्रकाशन, अभय कुटीर, सारनाथ।
९. दशवैकालिक सार्थ, लेखक - श्रीमद् विजय पूर्णचन्द्र सूरीश्वरजी, प्रका० श्री झालवाड़ा जैन संघ, मु०पो० झालवाड़ा, जिला - बनासकांठा।
१०. यशो आंतर व्यथा, संकलनकर्ता - श्रीमद् हेमभूषण सूरीश्वरजी, प्रका० - डीक्की वेगस, ८५, भंडारी स्ट्रीट, गोलदेवलनी के पास, मुंबई-४००००४
११. अमर उपाध्याय, लेखक - श्रीमद् विजय पूर्णचन्द्र सूरीश्वर जी, प्रका० - पंच प्रस्थान पुण्य स्मृति प्रकाशन, सुमंगल कार्यालय १०-३२९८/ए कालोनी मैदान, गोपीपुरा, सुरत।

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



ONLY NUWUD[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings

DESIGN FLEXIBILITY

flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF



Registered Head Office :
20/6, Mahura Road,
Faridabad-121006,
HARYANA.
Tel: +91 129 230400-6,
Fax: +91 129 5061037.



**NUWUD
MDF**

*The one wood for
all your woodwork*



Marketing Offices

Ahmedabad : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G. Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Bangalore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Bangalore. Tel. 080-30958040, 22279219, Fax. 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel. 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax : 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex No. 563, (New No. 250), 4A, 4th Floor, Poonamallee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel. 044-30970880, Fax: 044-30936561. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-25323731. **Kerala** : 33/1560-G Chakkarpampam Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028. Tel: 0484-3969454, 3969452. **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1st floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 0141-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2nd Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel. 022-39436667, 25002250, Fax 022-25002250. **Pune** : 209, 2nd floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39605076, 6121353, Fax: 020-26121353.